'नवीन नवलिका मंजरी',

[हिन्दी की १६ उत्कृष्ट कहानियों का संग्रह]

सम्पादक

श्रीराजनाथ पाण्डेय, एम० ए०,

प्राध्यापक, सागर विश्वविद्यालय

सागर

—:※:—

प्रकाशक

नेशनल प्रेस

प्रयाग

१६५२]

[मूल्य १॥)

क—
रमजान अली शाह
नेशनल प्रेस
प्रयाग

विषय-सूची

(१)

नवीन नवलिका मंजरी

बड़े भाईसाहब

[प्रेमचन्द]

मेरे भाई मुझसे पाँच साल बड़े थे, लेकिन केवल तीन दर्जे आगे। उन्होंने भी उसी उम्र में पढ़ना शुरू किया था, जिसमें मैंने शुरू किया, लेकिन तालीम जैसे महत्व के मामले में वह जल्दीबाजी से काम लेना पसन्द न करते थे। इस भवन की बुनियाद खूब मजबूत डालनी चाहते थे, जिस पर आलीशान महल बन सके। एक साल का काम दो साल में करते थे। कभी-कभी तीन साल भी लग जाते थे। बुनियाद ही पुख्ता न हो, तो मकान कैसे पायेदार बने।

मैं छोटा था, वह बड़े थे। मेरी उम्र नौ साल की, वह चौदह साल के थे। उन्हें मेरी तम्बीह और निगरानी का पूरा और जन्मसिद्ध अधिकार था। और मेरी शालीनता इसी में थी कि उनके हुक्म को कानून समझूँ।

वह स्वभाव से बड़े अध्ययन-शील थे। हरदम किताब खोले बैठे रहते। और शायद दिमाग को आराम देने के लिए कभी कापी पर कभी किताब के हाशियों पर चिड़ियों, कुत्तों, बिल्लियों की तस्वीरें बनाया करते थे। कभी-कभी एक ही नाम या शब्द

या वाक्य दस-बीस बार लिख डालते। कभी एक शेर को बार-बार सुन्दर अक्षरों में नकल करते। कभी ऐसी शब्द-रचना करते, जिसमें न कोई अर्थ होता न कोई सामंजस्य। मसलन एक बार उनकी कापी पर मैंने यह इबारत देखी—स्पैशल, अमीना, भाइयो-भाइयो, दर-असल, भाई-भाई, राधेश्याम, श्रीयुत् राधेश्याम, एक घन्टे तक—इसके बाद एक आदमी का चेहरा बना हुआ था। मैंने बहुत चेष्टा की कि इस पहेली का कोई अर्थ निकालूँ; लेकिन असफल रहा। और उनसे पूछने का साहस न हुआ। वह नवीं जमात में थे, मैं पाँचवीं में। उनकी रचनाओं को समझना मेरे लिए छोटा मुँह बड़ी बात थी।

मेरा जी पढ़ने में बिल्कुल न लगता था। एक घंटा भी किताब लेकर बैठना पहाड़ था। मौका पाते ही होस्टल से निकलकर मैदान में आ जाता, और कभी कंकरियाँ उछालता, कभी कागज की तितलियाँ उड़ाता, और कहीं कोई साथी मिल गया, तो पूछना ही क्या। कभी चारदीवारी पर चढ़कर नीचे कूद रहे हैं, कभी फाटक पर सवार, उसे आगे-पीछे चलाते हुए मोटरकार का आनन्द उठा रहे हैं, लेकिन कमरे में आते ही भाईसाहब का वह रुद्र-रूप देखकर प्राण सूख जाते। उनका पहला सवाल होता—कहाँ थे ? हमेशा यही सवाल, इसी ध्वनि में हमेशा पूछा जाता था और इसका जवाब मेरे पास केवल मौन था। न जाने मेरे मुँह से यह बात क्यों न निकलती कि जरा बाहर खेल रहा था। मेरा मौन कह देता था कि मेरा अपराध स्वीकार है। और भाईसाहब के लिए इसके सिवा और कोई इलाज न था कि स्नेह और रोष से मिले हुए शब्दों में मेरा सत्कार करें:—

"इस तरह अंग्रेजी पढ़ोगे, तो जिन्दगी भर पढ़ते रहोगे

और एक हर्फ न आएगा। अंग्रेजी पढ़ना कोई हँसी-खेल नहीं है कि जो चाहे पढ़ ले; नहीं तो ऐरा-गैरा, नत्थू खैरा सभी अंग्रेजी के विद्वान् हो जाते। यहाँ रात-दिन आँखें फोड़नी पड़ती हैं, और खून जलाना पड़ता है, तब कहीं यह विद्या आती है। और आती क्या है, हाँ, कहने को आ जाती है। बड़े-बड़े विद्वान् भी शुद्ध अंग्रेजी नहीं लिख सकते, बोलना तो दूर रहा। और मैं कहता हूँ, तुम कितने घोंघा हो कि देखकर भी सबक नहीं लेते। मैं कितनी मेहनत करता हूँ, यह तुम अपनी आँखों देखते हो, अगर नहीं देखते, तो यह तुम्हारी आँखों का कसूर है, तुम्हारी बुद्धि का कसूर है। इतने मेले-तमाशे होते हैं, मुझे तुमने कभी देखने जाते देखा है? रोज ही क्रिकेट और हाकी मैच होते हैं मैं पास नहीं फटकता। हमेशा पढ़ता रहता हूँ, उस पर भी एक-एक दर्जे में दो-दो, तीन-तीन साल पड़ा रहता हूँ, फिर तुम कैसे आशा करते हो कि तुम यों खेल-कूद में वक्त गवाँकर पास हो जाओगे? मुझे तो दो ही तीन साल लगते हैं; तुम उम्र भर इसी दर्जे में पड़े सड़ते रहोगे। अगर तुम्हें इस तरह उम्र गँवानी है, तो बेहतर है, घर चले जाओ और मजे से गुल्ली-डंडा खेलो। दादा की गाढ़ी कमाई के रुपये क्यों बरबाद करते हो?"

मैं यह लताड़ सुनकर आँसू बहाने लगता। जवाब ही क्या था, अपराध तो मैंने किया, लताड़ कौन सहे? भाईसाहब उपदेश की कला में निपुण थे। ऐसी-ऐसी लगती बातें कहते, ऐसे-ऐसे सूक्ति-बाण चलाते, कि मेरे जिगर के टुकड़े-टुकड़े हो जाते और हिम्मत टूट जाती। इस तरह जान तोड़कर मेहनत करने की शक्ति मैं अपने में न पाता था। और उस निराशा में जरा देर के लिए मैं सोचने लगा—क्यों न घर चला जाऊँ।

जो काम मेरे बूते के बाहर है, उसमें हाथ डालकर क्यों अपनी जिन्दगी खराब करूँ ? मुझे मूर्ख रहना मंजूर था लेकिन उतनी मेहनत ! मुझे तो चक्कर आ जाता था, लेकिन घंटे दो घंटे के बाद निराशा के बादल फट जाते और मैं इरादा करता कि आगे से खूब जी लगाकर पढ़ूँगा। चटपट एक टाइम-टेबुल बना डालता। बिना पहले से नकशा बनाए, कोई स्कीम तैयार किए काम कैसे शुरू करूँ ? टाइम-टेबुल में खेल-कूद की मद बिलकुल उड़ जाती। प्रातःकाल उठना, छः बजे मुँह-हाथ धो, नाश्ता कर पढ़ने बैठ जाना। छः से आठ तक अंग्रेजी, आठ से नौ तक हिसाब, नौ से साढ़े नौ तक इतिहास, फिर भोजन और स्कूल। साढ़े तीन बजे स्कूल से वापस होकर आधा घंटा आराम, चार से पाँच तक भूगोल, पाँच से छः तक ग्रामर, आधा घंटा होस्टल के सामने ही टहलना, साढ़े छः से सात तक अंग्रेजी कम्पोजीशन, फिर भोजन करके आठ से नौ तक अनुवाद, नौ से दस तक हिन्दी, दस से ग्यारह तक विविध-विषय, फिर विश्राम।

मगर टाइम टेबुल बना लेना एक बात है, उस पर अमल करना दूसरी बात। पहले ही दिन से उसकी अवहेलना शुरू हो जाती। मैदान की वह सुखद हरियाली, हवा के वह हलके-हलके झोंके, फुटबाल की वह उछल-कूद, कबड्डी के वह दाँव-घात, वाली-बाल की वह तेजी और फुर्ती मुझे अज्ञात और अनिवार्य रूप से खींच ले जाती और वहाँ जाते ही मैं सब कुछ भूल जाता। वह जान-लेवा टाइम-टेबुल, वह आँख-फोड़ पुस्तकें, किसी को याद न रहतीं, और फिर भाईसाहब को नसीहत और फजीहत का अवसर मिल जाता। उनके साये से भागता, उनकी आँखों से दूर रहने की चेष्टा करता, कमरे में इस तरह

दबे पाँव आता कि उन्हें खबर न हो ! उनकी नजर मेरी ओर उठी और मेरे प्राण निकले। हमेशा सिर पर एक नंगी तलवार सी लटकती मालूम होती। फिर भी जैसे मौत और विपत्ति के बीच में भी आदमी मोह और माया के बन्धन में जकड़ा रहता है, मैं फटकार और घुड़कियाँ खाकर भी खेल-कूद का तिरस्कार न कर सकता।

(२)

सालाना इम्तहान हुआ। भाईसाहब फेल हो गये, मैं पास हो गया और दर्जे में प्रथम आया। मेरे और उनके बीच में केवल दो साल का अन्तर रह गया। जी में आया, भाईसाहब को आड़े हाथों लूँ—आपकी वह घोर तपस्या कहाँ गई ? मुझे देखिए, मजे से खेलता भी रहा और दर्जे में अव्वल भी हूँ। लेकिन वे इतने दुखी और उदास थे कि मुझे उनसे दिली हमदर्दी हुई और उनके घाव पर नमक छिड़कने का विचार ही लज्जास्पद जान पड़ा। हाँ, अब अपने ऊपर मुझे कुछ अभिमान हुआ और आत्माभिमान भी बढ़ा। भाईसाहब का रोब मुझ पर न रहा। आजादी से खेल-कूद में शरीक होने लगा। दिल मजबूत था। अगर उन्होंने फिर मेरी फजीहत की, तो साफ कह दूँगा--आपने अपना खून जलाकर कौन-सा तीर मार लिया। मैं तो खेलते-कूदते दर्जे में अव्वल आ गया। जबान से वह हेकड़ी जताने का साहस न होने पर भी मेरे रंग ढंग से साफ जाहिर होता था कि भाईसाहब का वह आतंक मुझ पर नहीं है। भाईसाहब ने इसे भाँप लिया—उनकी सहज बुद्धि बड़ी तीव्र थी और एक दिन जब मैं भोर का सारा समय गुल्ली-डंडे की भेंट करके ठीक भोजन के समय

लौटा तो भाईसाहब ने मानो तलवार खींच ली और मुझ पर टूट पड़े—देखता हूँ कि इस साल पास हो गए और दर्जे में अव्वल आ गए, तो तुम्हें दिमाग हो गया है; मगर भाई जान, घमंड तो बड़े-बड़ों का नहीं रहा, तुम्हारी क्या हस्ती है? इतिहास में रावण का हाल तो पढ़ा ही होगा। उसके चरित्र से तुमने कौन-सा उपदेश लिया? या योंही पढ़ गये? महज इम्तहान पास कर लेना कोई चीज नहीं, असल चीज है बुद्धि का विकास। जो कुछ पढ़ो उसका अभिप्राय समझो। रावण भूमण्डल का स्वामी था। ऐसे राजों को चक्रवर्ती कहते हैं। आज-कल अंग्रेजों के राज्य का विस्तार बिलकुल बढ़ा हुआ है, पर इन्हें चक्रवर्ती नहीं कह सकते। संसार में अनेकों राष्ट्र अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार नहीं करते। बिलकुल स्वाधीन हैं। रावण चक्रवर्ती राजा था, संसार के सभी महीप उसे कर देते थे। बड़े-बड़े देवता उसकी गुलामी करते थे। आग और पानी के देवता भी उसके दास थे, मगर उसका अन्त क्या हुआ? घमंड ने उसका नाम-निशान तक मिटा दिया, कोई उसे एक चुल्लू पानी देने वाला भी न बचा। आदमी और जो कुकर्म चाहे करे, पर अभिमान न करे, इतराए नहीं। अभिमान किया और दीन-दुनिया दोनों से गया। शैतान का हाल भी पढ़ा ही होगा। उसे यह अभिमान हुआ कि ईश्वर का उससे बढ़कर सच्चा भक्त कोई है ही नहीं। अन्त में यह हुआ कि स्वर्ग से नर्क में ढकेल दिया गया। शाहे रूम ने भी एक बार अहंकार किया था। भीख माँग-माँगकर मर गया। तुमने अभी केवल एक दर्जा पास किया है, और अभी से तुम्हारा सिर फिर गया, तब तो तुम आगे बढ़ चुके। यह समझ लो कि तुम अपनी मेहनत से नहीं पास हुए, अंधे के

हाथ बटेर लग गई। मगर बटेर केवल एक बार हाथ लग सकती है, बार-बार नहीं लग सकती। कभी-कभी गुल्ली-डण्डे में भी अन्धा-चोट निशाना पड़ जाता है। इससे कोई सफल खिलाड़ी नहीं हो जाता। सफल खिलाड़ी वह है जिसका कोई निशाना खाली न जाय। मेरे फेल होने पर मत जाओ। मेरे दर्जे में आओगे, तो दाँतों पसीना जाएगा, जब अलजबरा और जॉमेट्री के लोहे के चने चबाने पड़ेंगे, और इंगलिस्तान का इतिहास पढ़ना पड़ेगा। बादशाहों के नाम याद रखना आसान नहीं। आठ-आठ हेनरी हो गुजरे हैं। कौन-सा कांड किस हेनरी के समय में हुआ, क्या यह याद कर लेना आसान समझते हो? हेनरी सातवें की जगह हेनरी आठवाँ लिखा और सब नम्बर गायब! सफाचट! सिफर भी न मिलेगा सिफर भी! हो किस खयाल में? दरजनों तो जेम्स हुए हैं, दरजनों विलियम, कोड़ियों चार्ल्स! दिमाग चक्कर खाने लगता है। आँधी रोग हो जाता है। इन अभागों को नाम भी न जुड़ते थे। एक ही नाम के पीछे दोयम, सोयम, चहारम, पंचम लगाते चले गए। मुझसे पूछते तो दस लाख नाम बतला देता। जॉमेट्री तो बस खुदा की पनाह! अ ब ज की जगह अ ज ब लिख दिया तो सारे नम्बर कट गए। कोई इन निर्दयी मुमतहिनों से नहीं पूछता कि आखिर अ ब ज और अ ज ब में क्या फर्क है। और व्यर्थ की बात के लिए क्यों छात्रों का खून करते हैं।? दाल-भात-रोटी खाई या भात-दाल-रोटी खाई, इसमें क्या रक्खा है, मगर इन परीक्षकों को क्या परवाह, वह तो वही देखते हैं जो पुस्तक में लिखा रहता है। चाहते हैं कि लड़के अक्षर-अक्षर रट डालें। और इसी रटन्त का नाम शिक्षा रख छोड़ा है, और आखिर इन बे-सिर पैर

की बातों के पढ़ने से फायदा? इस रेखा पर वह लम्ब गिरा दो, तो आधार लम्ब से दुगुना होगा। पूछिए इससे प्रयोजन? दुगुना नहीं चौगुना हो जाय, या आधा ही रहे, मेरी बला से; लेकिन परीक्षा में पास होना है, तो यह सब खुराफात याद करनी पड़ेगी। कह दिया—'समय की पाबन्दी' पर एक निबन्ध लिखो, जो चार पन्नों से कम न हो। अब आप कापी सामने खोले, कलम हाथ में लिये, उसके नाम को रोइए। कौन नहीं जानता कि समय की पाबन्दी बहुत अच्छी बात है, इससे आदमी के जीवन में संयम आ जाता है, दूसरों का उस पर स्नेह होने लगता है और उसके कारोबार में उन्नति होती है, लेकिन इस जरा-सी बात पर चार पन्ने कैसे लिखें? जो बात एक वाक्य में कही जा सके, उसे चार पन्नों में लिखने की जरूरत? मैं तो इसे हिमाकत कहता हूँ। यह तो समय की किफायत नहीं, बल्कि उसका दुरुपयोग है कि व्यर्थ में किसी बात को ठूँस दिया जाय। हम चाहते हैं आदमी को जो कुछ कहना हो, चटपट कह दे और अपनी राह ले, मगर नहीं, आपको चार पन्ने रंगने पड़ेंगे, चाहे जैसे लिखिए। और पन्ने भी पूरे फुलस्केप के आकार के! यह छात्रों पर अत्याचार नहीं तो और क्या है? अनर्थ तो यह है कि कहा जाता है कि संक्षेप में लिखो 'समय की पाबन्दी' पर संक्षेप में एक नोट लिखो, जो चार पन्नों से कम न हो। ठीक संक्षेप में तो चार पन्ने हुए, नहीं शायद सौ-दो-सौ पन्ने लिखवाते। तेज भी दौड़िए और धीरे भी। है उल्टी बात या नहीं? बालक भी इतनी-सी बात समझ सकता है; लेकिन इन अध्यापकों को इतनी तमीज भी नहीं। उस पर दावा है कि हम अध्यापक हैं। मेरे दर्जे में आओगे लाला तो ये सारे पापड़ बेलने पड़ेंगे,

और तब आटे-दाल का भाव मालूम होगा। इस दर्जे में अव्वल आ गए, तो जमीन पर पाँव नहीं रखते। इसलिए मेरा कहना मानिए। लाख फेल हो गया हूँ, लेकिन तुमसे बड़ा हूँ, संसार का मुझे तुमसे ज्यादा अनुभव है। जो कुछ कहता हूँ उसे गिरह बाँधिए, नहीं पछताइएगा।"

स्कूल का समय निकट था, नहीं ईश्वर जाने यह उपदेश-माला कब समाप्त होती। भोजन आज मुझे निस्स्वाद-सा लग रहा था। जब पास होने पर यह तिरस्कार हो रहा है, तो फेल हो जाने पर तो शायद प्राण ही ले लिए जायँ। भाईसाहब ने अपने दर्जे की पढ़ाई का जो भयंकर चित्र खींचा था, उसने मुझे भयभीत कर दिया। कैसे स्कूल छोड़कर घर नहीं भागा, यही ताज्जुब है; लेकिन इतने तिरस्कार पर भी पुस्तकों में मेरी अरुचि ज्यों-की-त्यों बनी रही। खेल-कूद का कोई अवसर हाथ से जाने न देता। पढ़ता भी था; मगर बहुत कम, बस इतना कि रोज का टास्क पूरा हो जाय और दर्जे में जलील न होना पड़े। अपने ऊपर जो विश्वास पैदा हुआ था वह फिर लुप्त हो गया, और फिर चोरों का-सा जीवन कटने लगा।

(३)

फिर सालाना इम्तहान हुआ, और कुछ ऐसा संयोग हुआ कि मैं फिर पास हुआ और भाई साहब फिर फेल हो गए। मैंने बहुत मेहनत नहीं की; पर न जाने कैसे दर्जे में अव्वल आ गया। मुझे खुद अचरज हुआ। भाईसाहब ने प्राणांतक परिश्रम किया था। कोर्स का एक-एक शब्द चाट गए थे। दस बजे रात तक इधर, चार बजे भोर से उधर, छः से साढ़े नौ तक स्कूल जाने के पहले। मुद्रा कान्तिहीन हो गई थी, मगर बेचारे फेल

हो गए। मुझे उन पर दया आती थी। नतीजा सुनाया गया तो वह रो पड़े और मैं भी रोने लगा। अपने पास होने की खुशी आधी हो गई। मैं भी फेल हो गया होता तो भाईसाहब को इतना दुःख न होता, लेकिन विधि की बात कौन टाले ?

मेरे और भाईसाहब के बीच में अब केवल एक दर्जे का अन्तर और रह गया। मेरे मन में एक कुटिल भावना और उदय हुई कि कहीं भाईसाहब एक साल और फेल हो जायँ, तो मैं उनके बराबर हो जाऊँ, फिर वह किस आधार पर मेरी फजीहत कर सकेंगे; लेकिन मैंने इस कमीने विचार को दिल से बल-पूर्वक निकाल डाला। आखिर वह मुझे मेरे हित के विचार से ही तो डाँटते हैं। मुझे इस वक्त अप्रिय लगता है अवश्य, मगर यह शायद उनके उपदेशों का ही असर हो कि मैं दना-दन पास हो जाता हूँ और इतने अच्छे नम्बरों से। अब की भाईसाहब बहुत कुछ नर्म पड़ गए थे। कई बार मुझे डाँटने का अवसर पाकर भी उन्होंने धीरज से काम लिया, शायद अब वह खुद समझने लगे थे कि मुझे डाँटने का अधिकार उन्हें नहीं रहा था, या रहा तो बहुत कम। मेरी स्वच्छन्दता भी बढ़ी, मैं उनकी सहिष्णुता का अनुचित लाभ उठाने लगा। मुझे कुछ ऐसी धारणा हुई कि मैं तो पास हो ही जाऊँगा पढ़ूँ या न पढ़ूँ, मेरी तकदीर बलवान है; इसलिए भाईसाहब के डर से जो थोड़ा बहुत पढ़ लिया करता था, वह भी बन्द हुआ। मुझे कनकौए उड़ाने का नया शौक पैदा हो गया था, और अब सारा समय पतंग-बाजी ही की भेंट होता था; फिर भी मैं भाई-साहब का अदब करता था, और उनकी आँख बचाकर कनकौए उड़ाता था। माँझा देना, कने बाँधना, पतंग टूरनामेंट की तैयारियाँ आदि समस्याएँ सब गुप्त रूप से हल की जाती थीं। मैं

भाईसाहब को यह सन्देह न करने देना चाहता था कि उनका सम्मान और लिहाज मेरी नजरों में कम हो गया है।

एक दिन सन्ध्या समय होस्टल से दूर मैं एक कनकौवा लूटने बेतहाशा दौड़ा जा रहा था। आँखें आसमान की ओर थीं और मन उस आकाशगामी पथिक की ओर, जो मन्द गति से झूमता पतन की ओर चला आ रहा था, मानो कोई आत्मा स्वर्ग से निकलकर विरक्त मन से नये संस्कार ग्रहण करने जा रही है। बालकों की एक पूरी सेना लम्बे और झाड़दार बाँस लिए उसका स्वागत करने को दौड़ी आ रही थी। किसी को अपने आगे-पीछे की खबर न थी, सभी मानो उस पतंग के साथ ही आकाश में उड़ रहे थे, जहाँ सब कुछ समतल है; न मोटर कारें हैं, न ट्राम न गाड़ियाँ।

सहसा भाईसाहब से मेरी मुठभेड़ हो गई, जो शायद बाजार से लौट रहे थे। उन्होंने वहीं मेरा हाथ पकड़ लिया और उग्र भाव से बोले—"इन बाजारी लौंडों के साथ धेले के कनकौवे के लिए दौड़ते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती? तुम्हें इसका भी कुछ लिहाज नहीं कि अब नीची जमात में नहीं हो; बल्कि आठवीं जमात में आ गए हो और मुझसे केवल एक दर्जा नीचे हो। आखिर आदमी को कुछ तो अपनी पोजीशन का खयाल करना चाहिए। एक जमाना था कि लोग आठवाँ दर्जा पास करके नायब-तहसीलदार हो जाते थे। मैं कितने ही मिडिलचियों को जानता हूँ, जो आज अव्वल दर्जे के डिप्टी-मजिस्ट्रेट या सुपरिन्टेडेन्ट हैं। कितने ही आठवीं जमात वाले हमारे लीडर और समाचार-पत्रों के सम्पादक हैं। बड़े-बड़े विद्वान् उनकी मातहती में काम करते हैं और तुम उसी आठवें दर्जे में आकर

बाजारी लौंडों के साथ कनकौए के लिए दौड़ रहे हो। मुझे तुम्हारी इस कमअकली पर दुःख होता है। तुम जहीन हो, इसमें शक नहीं। लेकिन वह जहन किस काम का, जो हमारे आत्म-गौरव की हत्या कर डाले, तुम अपने दिल में समझते होगे कि मैं भाईसाहब से महज एक दर्जा नीचे हूँ, और अब उन्हें मुझको कुछ कहने का हक नहीं है, लेकिन यह तुम्हारी गलती है। मैं तुमसे पाँच साल बड़ा हूँ और चाहे आज तुम मेरी ही जमात में आ जाओ—और परीक्षकों का यही हाल है, तो निस्सन्देह अगले साल तुम मेरे समकक्ष हो जाओगे, और शायद एक साल बाद मुझसे आगे भी निकल जाओ—लेकिन मुझमें और तुममें जो पाँच साल का अन्तर है, उसे तुम क्या, खुदा भी नहीं मिटा सकता। मैं तुमसे पाँच साल बड़ा हूँ और हमेशा रहूँगा। मुझे दुनिया का और जिन्दगी का जो तजरबा है, तुम उसकी बराबरी नहीं कर सकते, चाहे तुम एम० ए० और डी० लिट और डी० फिल० ही क्यों न हो जाओ। समझ किताबें पढ़ने से नहीं आती, दुनिया देखने से आती है। हमारी मां ने कोई दर्जा नहीं पास किया और दादा भी शायद पाँचवीं-छठी जमात के आगे नहीं गये, लेकिन हम दोनों चाहे सारी दुनिया की विद्या पढ़ लें, अम्मा और दादा को हमें समझाने और सुधारने का अधिकार हमेशा रहेगा। केवल इसलिए नहीं कि वे हमारे जन्मदाता हैं बल्कि इसलिए कि उन्हें दुनिया का इससे ज्यादा तजरबा है और रहेगा। अमेरिका में किस तरह की राज-व्यवस्था है, और आठवें हेनरी ने कितने व्याह किए और आकाश में कितने नक्षत्र हैं यह बातें चाहे उन्हें न मालूम हों, लेकिन हजारों ऐसी बातें हैं, जिनका ज्ञान उन्हें हमसे और तुमसे ज्यादा है। दैव न करे, आज मैं बीमार हो जाऊँ, तो

तुम्हारे हाथ-पाँव फूल जायेंगे। दादा को तार देने के सिवाय तुम्हें और कुछ न सूझेगा; लेकिन तुम्हारी जगह दादा हों, तो किसी को तार न दें, न घबराएँ, न बदहवास हों। पहले खुद मर्ज पहचान कर इलाज करेंगे, उसमें सफल न हुए, तो किसी डाक्टर को बुलाएँगे। बीमारी तो खैर बड़ी चीज है, हम-तुम तो इतना भी नहीं जानते कि महीने भर का खर्च महीना-भर कैसे चले। जो कुछ दादा भेजते हैं, उसे हम बीस-बाईस दिन तक खर्च डालते हैं, और फिर पैसे-पैसे को मुहताज हो जाते हैं। नाश्ता बन्द हो जाता है, धोबी और नाई से मुँह चुराने लगते हैं; लेकिन जितना आज हम और तुम खर्च कर रहे हैं उसके आधे में दादा ने अपनी उम्र का बड़ा भाग इज्जत और नेकनामी के साथ निभाया है और एक कुटुम्ब का पालन किया है जिसमें सब मिलाकर नौ आदमी थे। अपने हेडमास्टरसाहब ही को देखो, एम० ए० हैं कि नहीं; और यहां के एम० ए० नहीं, आक्सफोर्ड के। एक हजार रुपये पाते हैं, लेकिन उनके घर का इन्तजाम कौन करता है? उनकी बूढ़ी माँ। हेडमास्टरसाहब की डिग्री यहाँ बेकार हो गई। पहले घर का खुद इन्तजाम करते थे। खर्च पूरा न पड़ता था, कर्जदार रहते थे। जबसे उनकी माताजी ने प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया है, जैसे घर में लक्ष्मी आ गई है। तो भाईजान, यह गरूर दिल से निकाल डालो कि तुम मेरे समीप आ गए हो, और अब स्वतन्त्र हो। मेरे देखते तुम बेराह न चलने पाओगे। अगर तुम यों न मानोगे तो मैं (थप्पड़ दिखा कर) इसका प्रयोग भी कर सकता हूँ। मैं जानता हूँ, तुम्हें मेरी बातें जहर लग रही हैं।"

मैं उनकी इस नयी युक्ति से नतमस्तक हो गया। मुझे आज सचमुच अपनी लघुता का अनुभव हुआ और भाईसाहब के

प्रति मेरे मन में श्रद्धा उत्पन्न हुई। मैंने सजल आँखों से कहा—हरगिज नहीं। आप जो कुछ फरमा रहे हैं, वह बिल्कुल सच है, और आपको उसके कहने का अधिकार है।

भाईसाहब ने मुझे गले लगा लिया और बोले—मैं कनकौवे उड़ाने को मना नहीं करता। मेरा जी भी ललचाता है, लेकिन करूँ क्या, खुद बेराह चलूँ, तो तुम्हारी रक्षा कैसे करूँ? यह कर्त्तव्य भी तो मेरे सिर है।

संयोग से उसी वक्त एक कटा हुआ कनकौवा हमारे ऊपर से गुजरा। उसकी डोर लटक रही थी। लड़कों का एक गोल पीछे-पीछे दौड़ा चला आता था। भाईसाहब लम्बे हैं ही उछलकर उसकी डोर पकड़ ली और बेतहाशा होस्टल की तरफ दौड़े। मैं पीछे-पीछे दौड़ रहा था।

---

(२)

हार की जीत

[सुदर्शन]

(१)

माँ को अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लहलहाते खेत देखकर जो आनन्द आता है वही आनन्द बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर आता था। भगवद्-भजन से जो समय बचता, वह घोड़े को अर्पण हो जाता। यह घोड़ा बड़ा सुन्दर था, बडा बलवान्। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाके में न था। बाबा भारती उसे सुलतान कहकर पुकारते, अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते, और देख-देख कर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन, ऐसे प्यार, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने प्यारे को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था, रुपया, माल, असबाब, जमीन; यहाँ तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब गाँव से बाहर एक छोटे से मन्दिर में रहते और भगवान् का भजन करते थे। परन्तु सुलतान से बिछुड़ने की वेदना उनके लिए असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह सकूँगा, उन्हें ऐसी भ्राँति सी हो गई थी। वह उसकी

चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसा चलता है, जैसे मोर घन-घटा को देखकर नाच रहा हो। गाँवों के लोग इस प्रेम को देखकर चकित थे: कभी कभी कनखियों से इशारे भी करते थे; परन्तु बाबा भारती को इसकी परवाह न थी। जब तक संध्या-समय सुलतान पर चढ़ कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते, उन्हें चैन न आती।

खड्गसिंह उस इलाके का प्रसिद्ध डाकू था। लोग उसका नाम सुन कर काँपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुँची। उसका हृदय उसे देखने के लिए अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुँचा और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा—खड्गसिंह, क्या हाल है?

खड्गसिंह ने सिर झुका कर उत्तर दिया—आपकी दया है।

'कहो, इधर कैसे आ गये?'

'सुलतान की चाह खींच लाई।'

'विचित्र जानवर है। देखोगे, तो प्रसन्न हो जावोगे।'

'मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी है।'

'उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी।'

'कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुन्दर है।'

क्या कहना। जो उसे एक बार देख लेता है उसके हृदय पर उसकी छबि अंकित हो जाती है।'

बहुत दिनों से अभिलाषा थी; आज उपस्थित हो सका हूँ।

बाबा और खड्गसिंह, दोनों अस्तबल में पहुँचे। बाबा ने घोड़ा दिखाया घमंड से। खड्गसिंह ने घोड़ा देखा आश्चर्य से। उसने सहस्रों घोड़े देखे थे; परन्तु ऐसा बाँका घोड़ा उसकी

आँखों से कभी न गुजरा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोड़ा खड्गसिंह के पास होना चाहिए था। इस साधु को ऐसी चीजों से क्या लाभ? कुछ देर तक आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा। इसके पश्चात् हृदय में हलचल होने लगी। बालकों की-सी अधीरता से बोला—परन्तु बाबा जी, इसकी चाल न देखी, तो क्या देखा?

(२)

बाबा जी भी मनुष्य ही थे। अपनी वस्तु की प्रशंसा दूसरे के मुख से सुनने के लिए उनका हृदय भी अधीर हो गया। घोड़े को खोलकर बाहर लाये, और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे। एकाएक उचक कर सवार हो गये। घोड़ा वायुवेग से उड़ने लगा। उसकी चाल देखकर, उसकी गति देखकर खड्गसिंह के हृदय पर साँप लोट गया। वह डाकू था, और जो वस्तु उसे पसंद आ जाय, उस पर अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहुबल था, और आदमी थे। जाते-जाते उसने कहा—बाबा जी, मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूँगा।

बाबा भारती डर गये। अब उन्हें रात को नींद न आती थी। सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी। प्रति-क्षण खड्गसिंह का भय लगा रहता। परन्तु कई मास बीत गये, और वह न आया। यहाँ तक कि बाबा भारती कुछ लापरवाह हो गये। और इस भय को स्वप्न के भय की नाईं मिथ्या समझने लगे।

संध्या का समय था। बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार घूमने जा रहे थे। इस समय उनकी आँखों में चमक

थी, मुख पर प्रसन्नता। कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रंग को, और मन में फूले न समाते थे।

सहसा एक ओर से आवाज आई—ओ बाबा, इस कँगले की भी बात सुनते जाना।

आवाज में करुणा थी। बाबा ने घोड़े को थाम लिया। देखा, एक अपाहिज वृक्ष की छाया में पड़ा कराह रहा है। बोले—क्यों तुम्हें क्या कष्ट है?

अपाहिज ने हाथ जोड़ कर कहा—बाबा, मैं दुखिया हूँ। मुझ पर दया करो। रामांवाला यहाँ से तीन मील है; मुझे वहाँ जाना है। घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा भला करेगा।

'वहाँ तुम्हारा कौन है?"

'दुर्गादत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा। मैं उनका सौतेला भाई हूँ।"

बाबा भारतीय ने घोड़े से उतर कर अपाहिज को घोड़े पर सवार किया, और स्वयं उसकी लगाम पकड़ कर धीरे-धीरे चलने लगे।

सहसा उन्हें एक झटका सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि अपाहिज घोड़े की पीठ पर बैठा, और घोड़े को दौड़ाये लिए जा रहा है। उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख निकल गई। यह अपाहिज खड्गसिंह डाकू था।

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे, और इसके पश्चात् कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्ला कर बोले—जरा ठहर जाओ।

खड्गसिंह ने यह आवाज सुन कर घोड़ा रोक लिया, और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरते हुए कहा—बाबा जी, यह घोड़ा अब न दूँगा।

'परन्तु एक बात सुनते जाओ।'

खड्गसिंह ठहर गया। बाबा भारती ने निकट जाकर उसकी ओर ऐसी आँखों से देखा, जैसे बकरा कसाई की ओर देखता है, और कहा—घोड़ा तुम्हारा हो चुका। मैं तुमसे वापस करने के लिये न कहूँगा। परन्तु खड्गसिंह, केवल एक प्रार्थना करता हूँ, उसे अस्वीकार न करना, नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा।

'बाबा जी, आज्ञा कीजिये। मैं आपका दास हूँ; केवल यह घोड़ा न दूँगा।'

'अब घोड़े का नाम न लो, मैं तुमसे इसके विषय में कुछ न कहूँगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना।'

खड्गसिंह का मुँह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि मुझे इस घोड़े को लेकर यहाँ से भागना पड़ेगा, परन्तु बाबा भारती ने स्वयं उससे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रकट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड्गसिंह ने बहुत सोचा, बहुत सिर मारा; परन्तु कुछ समझ न सका। हार कर उसने अपनी आँखें बाबा भारती के मुख पर गड़ा दीं, और पूछा—बाबा जी, इसमें आपको क्या डर है?

सुन कर बाबा भारती ने उत्तर दिया—लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया, तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे।

और यह कहते-कहते उन्होंने सुलतान की ओर से इस तरह मुँह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई सम्बन्ध ही न था। बाबा भारती चले गये; परन्तु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी प्रकार गूँज रहे थे। सोचता था, कैसे ऊँचे विचार हैं, कैसा पवित्र भाव है! उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देख कर उनका मुख फूल की नाई खिल जाता था। कहते थे, इसके बिना मैं रह न सकूँगा। इसकी रखवाली में वह कई रातें सोये नहीं। भजन-भक्ति न कर रखवाली करते रहे! परन्तु आज उनके मुख पर दुःख की रेखा तक न देख पड़ती थी। उन्हें केवल यह ख्याल था कि कहीं लोग गरीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को मनुष्यत्व की हानि पर न्योछावर कर दिया, ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं, देवता है।

(३)

रात्रि के अंधकार में खड्गसिंह बाबा भारती के मन्दिर में पहुँचा। चारों ओर सन्नाटा था। आकाश पर तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गाँवों के कुत्ते भोंकते थे। मन्दिर के अन्दर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुँचा। फाटक किसी वियोगी की आँखों की तरह चौपट खुला था। किसी समय वहाँ बाबा भारती स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे; परन्तु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। हानि ने उन्हें हानि की तरफ से बेपरवा कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढ़ कर सुलतान को उसके स्थान पर बाँध दिया। और बाहर निकल कर सावधानी से फाटक बन्द कर दिया। इस समय उसकी आँखों में नेकी के आँसू थे।

अंधकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरम्भ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकल ठंढे जल से स्नान किया। उसके पश्चात् इस प्रकार, जैसे कोई स्वप्न में चल रहा हो, उनके पाँव अस्तबल की ओर मुड़े। परन्तु फाटक पर पहुँच कर उनको अपनी भूल प्रतीत हुई। साथ ही घोर निराशा ने पाँवों को मन-मन-भर का भारी बना दिया। वह वहीं रुक गये।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पाँवों की चाप को पहचान लिया, और जोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अन्दर घुसे, और अपने घोड़े के गले से लिपट कर इस प्रकार रोने लगे, जैसे बिछुड़ा हुआ पिता चिरकाल के पश्चात् पुत्र से मिल कर रोता है। बार-बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते, बार-बार उसके मुँह पर थपकियाँ देते और कहते थे—अब कोई गरीबों की सहायता से मुँह न मोड़ेगा।

थोड़ी देर के बाद जब वह अस्तबल से बाहर निकले तो उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे, ये आँसू उसी भूमि पर ठीक उसी जगह गिर रहे थे, जहाँ बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था।

दोनों के आँसुओं का उसी भूमि की मिट्टी पर परस्पर मिलाप हो गया।

---

(३)

छोटा जादूगर

[जयशंकर प्रसाद]

कार्निवल के मैदान में बिजली जगमगा रही थी। हँसी और विनोद का कलनाद गूँज रहा था। मैं खड़ा था, उस छोटे फुहारे के पास, जहाँ एक लड़का चुपचाप शरबत पीने वालों को देख रहा था। उसके गले में फटे कुरते के ऊपर से एक मोटी सी सूत की रस्सी पड़ी थी और जेब में कुछ ताश के पत्ते थे। उसके मुँह पर गम्भीर विषाद के साथ धैर्य की रेखा थी। मैं उसकी ओर न जाने क्यों आकर्षित हुआ। उसके अभाव में भी सम्पूर्णता थी। मैंने पूछा—क्यों जी तुमने इसमें क्या देखा ?

'मैंने सब देखा है। यहाँ चूड़ी फेंकते हैं। खिलौनों पर निशाना लगाते हैं। तीर से नम्बर छेदते हैं। मुझे तो खिलौनों पर निशाना लगाना अच्छा मालूम हुआ। जादूगर तो बिलकुल निकम्मा है। उससे अच्छा तो ताश का खेल मैं ही दिखा सकता हूँ।' उसने बड़ी प्रगल्भता से कहा। उसकी वाणी में कहीं रुकावट न थी।

मैंने पूछा—और उस परदे में क्या है ? वहाँ तुम गये थे ?

'नहीं, वहाँ मैं नहीं जा सका। टिकट लगता है।'

मैंने कहा—तो चलो। मैं वहाँ पर तुमको लिवा चलूँ। मैंने मन ही मन कहा—' भाई! आज के तुम्हीं मित्र रहे।'

उसने कहा—'वहाँ जाकर क्या कीजियेगा? चलिये निशाना लगाया जाय।'

मैंने उससे सहमत होकर कहा—तो फिर चलो पहले शरबत पी लिया जाय। उसने स्वीकार सूचक सिर हिला दिया।

मनुष्यों की भीड़ से जाड़े की सन्ध्या भी वहाँ गर्म हो रही थी। हम दोनों शरबत पीकर निशाना लगाने चले। राह में ही उससे पूछा—'तुम्हारे और कौन है?'

'माँ और बाबू जी।'

'उन्होंने तुमको यहाँ आने के लिये मना नहीं किया?'

'बाबू जी जेल में हैं।'

'क्यों!'

'देश के लिये'—वह गर्व से बोला।

'और तुम्हारी माँ?'

'वह बीमार है।'

'और तुम तमाशा देख रहे हो?'

उसके मुँह पर तिरस्कार की हँसी फूट पड़ी। उसने कहा—'तमाशा देखने नहीं दिखाने निकला हूँ। कुछ पैसे ले जाऊँगा, तो माँ को पथ्य दूँगा। मुझे शरबत न पिलाकर आपने मेरा खेल देखकर मुझे कुछ दे दिया होता, तो मुझे अधिक प्रसन्नता होती।

मैं आश्चर्य से उस तेरह चौदह वर्ष के लड़के को देखने लगा।

'हाँ, मैं सच कहता हूँ बाबू जी! माँ जी बीमार हैं, इसलिये मैं नहीं गया।'

'कहाँ?'

'जेल में! जब कुछ लोग खेल-तमाशा देखते ही हैं, तो मैं क्यों न दिखाकर माँ की दवा करूँ और अपना भी पेट भरूँ?'

मैंने दीर्घ निश्वास लिया। चारों ओर बिजली के लट्टू नाच रहे थे। मन व्यग्र हो उठा। मैंने उससे कहा—अच्छा, चलो, निशाना लगाया जाय।

हम दोनों उस जगह पर पहुँचे, जहाँ खिलौनों को गेंद से गिराया जाता था। मैंने बारह टिकट खरीद कर उस लड़के को दिये।

वह निकला पक्का निशानेबाज। कोई गेंद खाली नहीं गया। देखने वाले दंग रह गये। उसने बारह खिलौनों को बटोर लिया; लेकिन उठाता कैसे? कुछ मेरे रूमाल में बँधे, कुछ जेब में रख लिये गये।

लड़के ने कहा—'बाबू जी आपको तमाशा दिखाऊँगा। बाहर आइये मैं चलता हूँ।' वह नौ-दो ग्यारह हो गया। मैंने मन-ही-मन कहा—'इतनी जल्द आँख बदल गई।'

मैं घूम कर पान की दूकान पर आ गया। पान खाकर बड़ी देर तक इधर उधर टहलता देखता रहा। झूले के पास लोगों का ऊपर नीचे आना देखने लगा। अकस्मात् किसी ने ऊपर के हिंडोले से पुकारा—'बाबू जी!'

मैंने पूछा—'कौन ?'

'मैं हूँ छोटा जादूगर।'

× × × ×

कलकत्ता के सुरम्य बोटानिकल-उद्यान में लाल कमलिनी से भरी हुई एक छोटी-सी झील के किनारे घने वृक्षों की छाया में अपनी मंडली के साथ बैठा हुआ मैं जलपान कर रहा था। बातें हो रही थीं। इतने में वही छोटा जादूगर दिखाई पड़ा। हाथ में चारखाने की खादी का झोला। साफ जाँघियाँ और आधी बाहों का कुरता सिर पर मेरा रूमाल सूत की रस्सी से बँधा हुआ था। मस्तानी चाल से झूमता हुआ आकर कहने लगा—

'बाबू जी नमस्ते! आज कहिये तो खेल दिखाऊँ ?'

'नहीं जी, अभी हम लोग जलपान कर रहे हैं।'

'फिर इसके बाद क्या गाना-बजाना होगा, बाबू जी ?'

'नहीं जी—तुमको ······ मैं क्रोध से कुछ और कहने जा रहा था। श्रीमती ने कहा—दिखलाओ जी तुम तो अच्छे आये। भला कुछ मन तो बदले। मैं चुप हो गया; क्योंकि श्रीमती की वाणी में वह माँ की सी मिठास थी जिसके सामने किसी भी लड़के को रोका नहीं जा सकता। उसने खेल आरम्भ किया।

उस दिन वाले कार्निवल के सब खिलौने उसके खेल में अपना अभिनय करने लगे। भालू मनाने लगा; बिल्ली रूठने लगी। बन्दर घुड़कने लगा।

गुड़िया का व्याह हुआ। गुड्डा वर काना निकला। लड़के की वाचालता से ही अभिनय हो रहा था। सब हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये।

मैं सोच रहा था। बालक को आवश्यकता ने कितना शीघ्र चतुर बना दिया। यही तो संसार है।

ताश के सब पत्ते लाल हो गये। फिर सब काले हो गये। गले की सूत की डोरी टुकड़े-टुकड़े होकर जुट गई। लट्टू अपने से नाच रहे थे। मैंने कहा—अब हो चुका। अपना खेल बटोर लो, हम लोग भी अब जायँगे।

श्रीमती जी ने धीरे से उसे एक रुपया दे दिया। वह उछल उठा।

मैंने कहा—लड़के !

'छोटा जादूगर कहिये। यही मेरा नाम है। इसी से मेरी जीविका है।'

मैं कुछ बोलना ही चाहता था, कि श्रीमती जी ने कहा—'अच्छा तुम इस रुपये से क्या करोगे ?'

'पहले भर पेट पकौड़ी खाऊँगा। फिर एक सूती कम्बल लूँगा।'

मेरा क्रोध अब लौट आया। मैं अपने पर बहुत क्रुद्ध होकर सोचने लगा—ओह ! कितना स्वार्थी हूँ मैं। उसके एक रुपये पाने पर मैं ईर्ष्या करने लगा था न।

वह नमस्कार करके चला गया। हम लोग लता-कुंज देखने के लिये चले।

उस छोटे से बनावटी जंगल में सन्ध्या साँय-साँय करने लगी थी। अस्ताचलगामी सूर्य की अन्तिम किरण वृक्षों की पत्तियों से बिदाई ले रही थी। एक शान्त वातावरण था। हम लोग धीरे-धीरे मोटर से हावड़ा की ओर आ रहे थे।

रह-रह कर छोटा जादूगर स्मरण होता था। सचमुच वह एक झोपड़ी के पास कम्बल कन्धे पर डाले खड़ा था। मैंने मोटर रोककर उससे पूछा—'तुम यहाँ कहाँ ?'

'मेरी माँ यहीं है न। अब उसे अस्पताल वालों ने निकाल दिया है।' मैं उतर गया। उस झोंपड़ी में देखा तो एक स्त्री चिथड़ों से लदी हुई काँप रही थी।

छोटे जादूगर ने कम्बल ऊपर से डालकर उसके शरीर से चिमटते हुये कहा—'माँ।'

मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े।

× × ×

बड़े दिन की छुट्टी बीत चली थी। मुझे अपने आफिस में समय से पहुँचना था। कलकत्ता से मन ऊब गया था। फिर भी चलते चलते एक बार उस उद्यान को देखने की इच्छा हुई। साथ ही साथ जादूगर भी दिखाई पड़ जाता, तो और भी·········मैं उस दिन अकेले ही चल पड़ा। जल्द लौट आना था।

दस बज चुका था। मैंने देखा, कि उस निर्मल धूप में सड़क के किनारे एक कपड़े पर छोटे जादूगर का रंगमंच सजा था। मोटर रोक कर उतर पड़ा। वहाँ बिल्ली रूठ रही थी। भालू मनाने चला था। व्याह की तैयारी थी; पर यह सब होते हुये भी जादूगर की वाणी में वह प्रसन्नता की तरी नहीं थी। जब

वह औरों को हँसाने की चेष्टा कर रहा था; तब जैसे स्वयं कँप जाता था। मानों उसके रोयें रो रहे थे। मैं आश्चर्य से देख रहा था। खेल हो जाने पर पैसा बटोर कर उसने भीड़ में मुझे देखा। वह जैसे क्षण-भर के लिये स्फूर्तिमान हो गया। मैंने उसकी पीठ थपथपाते हुये पूछा--'आज तुम्हारा खेल जमा क्यों नहीं ?'

'माँ ने कहा है कि आज तुरन्त चले आना। मेरी घड़ी समीप है।' अविचल भाव से उसने कहा।

'तब भी तुम खेल दिखलाने चले !' मैंने कुछ क्रोध से कहा। मनुष्य के सुख-दुख का माप अपना ही साधन तो है। उसी के अनुपात से वह तुलना करता है।

उसके मुँह पर वही परिचित तिरस्कार की रेखा फूट पड़ी।

उसने कहा—'न क्यों आता ?'

और कुछ अधिक कहने में जैसे वह अपमान सा अनुभव कर रहा था।

क्षण भर में मुझे अपनी भूल मालूम हो गई। उसके झोले को गाड़ी में फेंक कर उसे भी बैठाते हुये मैंने कहा—'जल्दी चलो।' मोटर वाला मेरे बताये हुये पथ पर चल पड़ा।

कुछ ही मिनटों में मैं झोंपड़े के पास पहुँचा। जादूगर दौड़ कर झोंपड़े में माँ माँ पुकारते हुये घुसा। मैं भी पीछे था, किन्तु स्त्री के मुँह से, बे .....निकल कर रह गया। उसके दुर्बल हाथ उठकर गिर गये। जादूगर उससे लिपटा रो रहा था, मैं स्तब्ध था। उस उज्ज्वल धूप में समग्र संसार जैसे जादू-सा मेरे चारों ओर नृत्य करने लगा।

---

(४)

एक घंटा

[पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी]

मनुष्यों का ज्ञान-क्षेत्र कितना संकुचित है ! संसार की बातें तो जानना दूर रहा, हम अपने ही जीवन की बातें नहीं जानते। यदि हम अपने जीवन की ही सब बातें जानलें, तो हम आश्चर्य से मुग्ध हो जायें। कितनी घटनायें अलक्षित रूप से आती हैं और चली जाती हैं। उनका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। प्रातःकालीन समीर की तरह वे हमको अज्ञानावस्था में थपकी देकर चली जाती हैं। यह अज्ञान हमारे लिए अच्छा ही है। यदि इसमें परोक्ष बातें जान लेने की दिव्य शक्ति हो जाय, तो हम क्षण भर के लिये निश्चिन्त न बैठ सकें। सम्पत्ति और विपत्ति का उत्थान-पतन देखते ही देखते हम घबड़ा जायें। रघुनाथ के जीवन के एक ही घंटे में कितनी बातें हो गईं, उन्हें वह खुद नहीं जानता। यदि वह जान सकता, तो न जाने उसकी क्या दशा होती।

रघुनाथ, ब्राह्मण का पुत्र, अल्पशिक्षित अतएव दरिद्रता से ग्रस्त था। बीस वर्ष की अवस्था में वह बिलकुल निराधार हो गया। शरीर हृष्ट-पुष्ट गौरवर्ण-मुख-मंडल पर ग्राम्य-जीवन-

सुलभ सरलता खेलती थी। गाँव में जीवन-निर्वाह का उपाय न देखकर उसने राजनाँद गाँव जाना निश्चय कर लिया। राजनाँद गाँव व्यापार का केन्द्र हो गया है। वहाँ पश्चिमी लोगों के लिये जीविका का अभाव नहीं है। उसका मामा भी वहीं रहता है। यह सोचकर एक दिन उसने घर की सब चीजें बेंचकर एक सौ रुपये एकत्र किये। दो चार कपड़े और कुछ ऐसी ही आवश्यक चीजों की एक गठरी बनाकर, वह घर से बाहर निकल पड़ा।

कुआर का महीना था। आकाश शुभ्र था। पृथ्वी पर भी शुभ्रता फैली हुई थी। खेतों में किसान अपने-अपने कामों में लगे थे। धीमी-धीमी हवा बह रही थी। खेतों में काम करती हुई कुछ स्त्रियाँ गा रही थीं—"अगम पहाड़ बन बीहड़ बटोहिया, मोहिं छाँड़ि चले कहाँ आज रे बटोहिया।" जन्म-भूमि को छोड़ते हुए रघुनाथ के लिए यह वियोग-गान बहुत ही व्यथाजनक था। उसने पीछे लौटकर एक बार अपने गाँव की ओर दृष्टिपात किया। पर गाँव हरे-भरे झाड़ों से बिलकुल छिप गया था। अनन्त आकाश में जाकर विलीन होकर होने वाली एक धूम्र-रेखा ही दिखलाई पड़ती थी। एक दीर्घ निश्वास लेकर रघुनाथ आगे बढ़ा।

दो तीन घंटे तक चलने के बाद रघुनाथ कुछ थक गया। धूप भी कड़ी हो गई। रघुनाथ किसी तरह आगे बढ़ रहा था। पैदल चलने का उसे अभ्यास नहीं था। कुछ देर के बाद सूर्य की किरणें असह्य हो गईं। रघुनाथ बिलकुल थक गया। सड़क के किनारे दो चार आम के पेड़ लगे हुए थे। उन्हीं की छाया में वह चला गया। नाला बह रहा था, पानी पीकर वहीं लेट

गया। सोचा, इधर से कोई बैलगाड़ी निकलेगी, तो उसी पर बैठ कर चला जाऊँगा। थका तो था ही, लेटते ही उसे नींद आ गई।

जब रघुनाथ निद्रित था, संसार जाग्रत था। बाह्य जगत पर उसकी दृष्टि नहीं; पर उस पर जगत की दृष्टि थी। कितने लोग उस पथ पर से आये और गये; कोई घोड़े पर, कोई गाड़ी पर, और कोई पैदल ही। एक बार एक मोटर-गाड़ी भी धड़-धड़ करती निकल गई। किसी ने उस पर दृष्टिपात भी नहीं किया। किसी ने उसे देखकर भी नहीं देखा। कोई उसे शराबी समझ कर अपने साथी से शराबियों की दुर्गति का हाल बतलाता चला गया। कोई उसे दुर्भिक्ष-पीड़ित दरिद्र समझ कर, वर्तमान काल की दशा पर टीका-टिप्पणी करने लगा। यों ही न जाने कितने लोग आये और गये, पर रघुनाथ उनकी निन्दा और सहानुभूति को सम दृष्टि से सहता हुआ निश्चिन्त सोता रहा।

थोड़ी देर के बाद एक टाँगा आकर खड़ा हुआ। उसके चक्के की एक कील टूट कर गिर पड़ी थी। उसमें से दो स्त्री-पुरुष उतरे। दोनों की वृद्धावस्था थी। पुरुष की अवस्था लगभग साठ वर्ष की थी और स्त्री की कोई पचास वर्ष की। जब तक कोचवान गाड़ी का चक्का सुधारने लगा, तब तक दोनों वहीं टहलने लगे। इतने में रघुनाथ पर उनकी दृष्टि पड़ी। स्त्री ने कहा—देखो तो, यह कैसा सुन्दर लड़का सो रहा है!

वृद्ध ने कहा—कैसी अच्छी नींद सो रहा है। मेरे भाग्य में ऐसी नींद कहाँ?

स्त्री—उठाऊँ?

पुरुष—मत उठाओ। बेचारा थका-माँदा सो रहा है।

स्त्री—कोई गरीब लड़का है। कितना सुन्दर है! ब्राह्मण का लड़का जान पड़ता है। इसे देखकर मुझे अपने मोहन की सुधि आ जाती है। यह कह कर स्त्री ने एक दीर्घ निश्वास लिया।

वृद्ध ने कहा—जाने दो, न जाने किसका लड़का है।

स्त्री—जान पड़ता है, बेचारे का कोई नहीं। नहीं तो वह सड़क पर क्यों सोता? सुनो, मुझे यह लड़का बड़ा अच्छा लगता है। तुम एक लड़का गोद लेना चाहते हो। इसे ही क्यों नहीं ले लेते? कहो तो इसे उठाऊँ?

भाग्य-लक्ष्मी रघुनाथ पर हँस रही थी, पर वह चुप पड़ा हुआ था। यदि वह जाग जाता तो कदाचित् वृद्ध उसे अपने साथ लिवा ले जाता, क्योंकि वह भी उसकी ओर से स्नेहार्द्र-दृष्टि से देख रहा था।

वह वृद्ध ब्राह्मण राजनाँद गाँव के व्यवसायियों में सब से धनी था। पर रघुनाथ निश्चिन्त सोता था। उसी समय कोचवान ने आकर कहा—गाड़ी ठीक हो गई है।

दोनों गाड़ी पर बैठ कर रवाना हो गये।

इसके बाद दो आदमी आकर वहीं बैठ गये और बातचीत करने लगे। एक ने कहा—बड़ी मुश्किल से जान बची। कानिस्टिबिल ने देख लिया था। वह बड़ा चालाक है।

दूसरे ने कहा—तुम तो बड़ा भद्दा काम करते हो। जरा सावधान रहते तो अभी एक हजार हाथ आते।

एक—(रघुनाथ की ओर देखकर) अरे यह कौन सो रहा है?

दूसरा—कोई मुसाफिर होगा।

एक—यार, इसकी कमर में तो कुछ है।

दूसरा—सच कहते हो, पचास रुपये से कम न होंगे। अच्छा माल मिला। देखो कोई आता तो नहीं है?

पहला—(इधर-उधर देखकर) नहीं, कोई नहीं आ रहा है।

दूसरा—देखो मैं छुरा निकाल कर इसकी गर्दन के पास रखता हूँ। तुम चुपचाप इसकी कमर से रुपये निकाल लो। अगर यह जाग गया तो मैं इसे खत्म ही कर दूँगा।

पहला—अच्छा।

रघुनाथ के लिए यह समय बहुत ही भीषण था। उसके प्राण संकट में थे। पर वह निश्चिन्त सो रहा था।

पहले आदमी ने छुरा निकाला ही था कि किसी के पैरों की आवाज आई। दोनों चुपचाप भाग गये और वहाँ पर एक लड़की आई। लड़की चौदह-पन्द्रह साल की रही होगी। रघुनाथ को देखकर वह लज्जा से खड़ी हो गई। इधर-उधर देखने लगी। कोई नहीं था। लड़की ने मन-ही-मन भगवान् से प्रार्थना की कि इसी के साथ मेरा विवाह हो। पर कुछ कह न सकी, क्योंकि तभी खड़-खड़ करती हुई एक गाड़ी आई। लड़की चुपचाप हट गई। गाड़ीवान ने रघुनाथ को सोते देखकर पुकारा—अरे, कौन सोता है?

रघुनाथ की नींद पूरी हो गई थी। गाड़ीवान की आवाज से वह जाग पड़ा। आँख खोलते ही गाड़ीवान को देखा। उसने पूछा—क्यों भाई कहाँ जाते हो?

गाड़ीवान ने कहा—राजनाँद गाँव।

रघुनाथ ने कहा—भाई, चार आने देंगे हमें भी ले चलोगे ?

गाड़ीवान ने कहा—चलो।

रघुनाथ निश्चिन्त होकर गाड़ी में बैठ गया।

---

(५)

रक्षा-बंधन

[विश्वम्भरनाथ शर्मा "कौशिक"]

(१)

'माँ मैं भी राखी बाँधूँगी।'

श्रावण की धूमधाम है। नगरवासी स्त्री-पुरुष बड़े आनन्द तथा उत्साह से श्रावणी का उत्सव मना रहे हैं। बहनें भाइयों के और ब्राह्मण अपने यजमानों के राखियाँ बाँध कर चाँदी कर रहे हैं। ऐसे ही समय एक छोटे से घर में एक दस वर्ष की बालिका ने अपनी माता से कहा—माँ मैं भी राखी बाँधूँगी।

उत्तर में माता ने एक ठंडी साँस भरी और कहा—किसके बाँधेगी बेटी—आज तेरा भाई होता तो.. ।

माता आगे कुछ न कह सकी। उसका गला रुँध गया और नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये।

अबोध बालिका ने अठलाकर कहा—तो क्या भइया ही के राखी बाँधी जाती है और किसी के नहीं? भइया नहीं है तो अम्मा मैं तुम्हारे ही राखी बाँधूँगी।

इस दुःख के समय भी पुत्री की बात सुनकर माता मुस-कराने लगी और बोली—अरी तू इतनी बड़ी हो गई—भला कहीं माँ के भी राखी बाँधी जाती है।

बालिका ने कहा—वाह, जो पैसा दे उसी के राखी बाँधी जाती है।

माता—अरी कँगली! पैसे भर नहीं—भाई ही के राखी बाँधी जाती है।

बालिका उदास हो गई।

माता घर का काम काज करने लगी। घर का काम शेष करके उसने पुत्री से कहा—आ तुझे न्हिला (नहला) दूँ।

बालिका मुख गम्भीर करके बोली—मैं नहीं नहाऊँगी।

माता—क्यों, नहावेगी क्यों नहीं?

बालिका—मुझे क्या किसी के राखी बाँधनी है?

माता—अरी राखी नहीं बाँधनी है तो क्या नहावेगी भी नहीं। आज त्योहार का दिन है। चल उठ नहा।

बालिका—राखी नहीं बाधूँगी तो तिवहार काहे का!

माता—(कुछ क्रुद्ध होकर) अरी कुछ सिड़न हो गई है। राखी-राखी रट लगा रक्खी है। बड़ी राखी बाँधने वाली बनी है। ऐसी ही होती तो आज यह दिन देखना पड़ता। पैदा होते ही बाप को खा बैठी। ढाई बरस की होते होते भाई से घर छुड़ा दिया। तेरे ही कर्मों से सब नास (नाश) हो गया।

बालिका बड़ी अप्रतिभ हुई और आँखों में आँसू भरे हुए चुपचाप नहाने को उठ खड़ी हुई।

❀ ❀ ❀ ❀

एक घंटा पश्चात् हम उसी बालिका को उसके घर के द्वार पर खड़ी देखते हैं। इस समय भी उसके सुन्दर मुख पर उदासी विद्यमान है। अब भी उसके नेत्रों में पानी छलछला रहा है।

परन्तु बालिका इस समय द्वार पर क्यों ? जान पड़ता है, वह किसी कार्यवश खड़ी है, क्योंकि उसके द्वार के सामने से जब कोई निकलता है तब वह बड़ी उत्सुकता से उसकी ओर ताकने लगती है। मानों वह मुख से कुछ कहे बिना केवल इच्छा-शक्ति ही से, उस पुरुष का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की चेष्टा करती थी। परन्तु जब उसे इसमें सफलता नहीं होती तब उसकी उदासी बढ़ जाती है।

इसी प्रकार एक, दो, तीन करके कई पुरुष, बिना उसकी ओर देखे, निकल गये।

अन्त को बालिका निराश होकर घर के भीतर लौट जाने को उद्यत ही हुई थी कि एक सुन्दर युवक की दृष्टि जो कुछ सोचता हुआ धीरे-धीरे जा रहा था, बालिका पर पड़ी। बालिका की आँखें युवक की आँखों से जा लगीं। न जाने उन उदास तथा करुणा-पूर्ण नेत्रों में क्या जादू भरा था, कि युवक ठिठक कर खड़ा हो गया और बड़े ध्यान से सिर से पैर तक देखने लगा। ध्यान से देखने पर युवक को ज्ञात हुआ कि बालिका की आँखें अश्रुपूर्ण है। तब वह अधीर हो उठा। निकट जाकर पूछा—बेटी क्यों रोती हो ?

बालिका इसका कुछ उत्तर न दे सकी। परन्तु उसने अपना एक हाथ युवक की ओर बढ़ा दिया। युवक ने देखा, बालिका के हाथ में एक लाल डोरा है। उसने पूछा—यह क्या है ?

बालिका ने आँखें नीची करके उत्तर दिया—राखी । युवक समझ गया। उसने मुस्कराकर अपना दाहिना हाथ आगे बढ़ा दिया।

बालिका का मुख-कमल खिल उठा। उसने बड़े चाव से युवक के हाथ में राखी बाँध दी।

राखी बँधवा चुकने पर युवक ने जेब में हाथ डाला और दो रुपये निकाल कर बालिका को देने लगा। परन्तु बालिका ने उन्हें लेना स्वीकार न किया। बोली—नहीं, पैसे दो।

युवक—ये पैसे से भी अच्छे हैं।

बालिका—नहीं—मैं पैसे लूँगी, यह नहीं।

युवक—ले लो बिटिया। इसके पैसे मँगा लेना। बहुत से मिलेंगे।

बालिका—नहीं, पैसे दो।

युवक ने चार आने पैसे निकाल कर कहा—अच्छा ले पैसे भी ले और यह भी ले।

बालिका—नहीं, खाली पैसे लूँगी।

तुझे दोनों लेने पड़ेंगे—यह कह कर युवक ने बलपूर्वक पैसे तथा रुपये बालिका के हाथ पर रख दिये।

इतने में घर के भीतर से किसी ने पुकारा—अरी सरसुती (सरस्वती) कहाँ गई ?

बालिका ने—आई—कहकर युवक की ओर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि डाली और चली गई।

(२)

गोलागंज (लखनऊ) की एक बड़ी तथा सुन्दर अट्टालिका

के एक सुसज्जित कमरे में एक युवक चिंता-सागर में निमग्न बैठा है। कभी वह ठंडी सांसें भरता है; कभी रूमाल से आँखें पोंछता है; कभी आप ही आप कहता है—हा! सारा परिश्रम व्यर्थ गया। सारी चेष्टायें निष्फल हुईं। क्या करूँ। कहाँ जाऊँ। उन्हें कहाँ ढूढूँ। सारा उन्नाव छान डाला। परन्तु फिर भी पता न लगा।—युवक आगे कुछ और कहने को था कि कमरे का द्वार धीरे धीरे खुला और एक नौकर अन्दर आया।

युवक ने कुछ विरक्त होकर पूछा—क्यों, क्या है?

नौकर—सरकार अमरनाथ बाबू आए हैं।

युवक—(संभलकर) अच्छा यहीं भेज दो।

नौकर के चले जाने पर युवक ने रूमाल से आँखें पोंछ डालीं और मुख पर गम्भीरता लाने की चेष्टा करने लगा।

द्वार फिर खुला और एक युवक अन्दर आया।

युवक—आओ भाई अमरनाथ!

अमरनाथ—कहो घनश्याम, आज अकेले कैसे बैठे हो? कानपुर से कब लौटे?

घनश्याम—कल आया था।

अमरनाथ—उन्नाव भी अवश्य ही उतरे होगे?

घनश्याम—(एक ठंडी सांस भरकर) हाँ उतरा था। परन्तु व्यर्थ। वहाँ अब मेरा क्या रखा है?

अमरनाथ—परन्तु करो क्या? हृदय नहीं मानता है—क्यों! और सच पूछो तो बात ही ऐसी है। यदि तुम्हारे स्थान पर मैं होता तो मैं भी ऐसा ही करता।

घनश्याम—क्या कहूँ मित्र मैं तो हार गया। तुम तो जानते ही हो कि मुझे लखनऊ आकर रहे एक वर्ष हो गया और जब

से यहाँ आया हूँ उन्हें ढूँढ़ने में कुछ भी कसर उठा नहीं रखी परन्तु सब व्यर्थ।

अमरनाथ—उन्होंने उन्नाव न जाने क्यों छोड़ दिया और कब छोड़ा इसका भी कोई पता नहीं चलता।

घनश्याम—इसका तो पता चल गया न, कि वे लोग मेरे चले जाने के एक वर्ष पश्चात् उन्नाव से चले गये। कहाँ गये, यह नहीं मालूम।

अमरनाथ—यह किससे मालूम हुआ ?

घनश्याम—उसी मकान वाले से जिसके मकान में हम लोग रहते थे।

अमरनाथ—हा शोक।

घनश्याम—कुछ नहीं, यह सब मेरे ही कर्मों का फल है। यदि मैं उन्हें छोड़कर न जाता; यदि गया था तो उनकी खोज-खबर लेता रहता। परन्तु मैं तो दक्षिण जाकर रुपया कमाने में इतना व्यस्त रहा कि कभी याद ही न आई। और जो आई भी तो क्षणमात्र के लिए। उफ, कोई भी अपने घर को भूल जाता है। मैं ही ऐसा अधम—

अमरनाथ—(बात काटकर) अजी नहीं, सब समय की बात है।

घनश्याम—मैं दक्षिण न जाता तो अच्छा था।

अमरनाथ—तुम्हारा दक्षिण जाना तो व्यर्थ नहीं हुआ। यदि न जाते तो इतना धन...।

घनश्याम—अजी चूल्हे में जाय धन। ऐसा धन किस काम का। मेरे हृदय में सुख शान्ति नहीं तो धन किस मर्ज की दवा है।

अमरनाथ—ऐं, यह हाथ में लाल डोरा क्यों बांधा है ?

घनश्याम—इसकी तो बात ही भूल गया ; यह राखी है।

अमरनाथ—भई वाह, अच्छी राखी है। लाल डोरे को राखी बताते हो। यह किसने बाँधी है। किसी बड़े कंजूस ब्राह्मण ने बाँधी होगी। दुष्ट ने एक पैसा तक खरचना पाप समझा। डोरे ही से काम निकाला।

घनश्याम—संसार में यदि कोई बढ़िया से बढ़िया राखी बन सकती है तो मुझे उससे भी कहीं अधिक प्यारा यह लाल डोरा है। यह कह कर घनश्याम ने उसे खोल कर बड़े यत्न पूर्वक अपने बक्स में रख लिया।

अमरनाथ—भई, तुम भी विचित्र मनुष्य हो। आखिर यह डोरा बाँधा किसने है।

घनश्याम—एक बालिका ने।

पाठक समझ गये होंगे कि घनश्याम कौन है।

अमरनाथ—बालिका ने कैसे बाँधा और कहाँ ?

घनश्याम—कानपुर में।

घनश्याम ने सारी घटना कह सुनाई।

अमरनाथ—यदि यह बात है तो सत्य ही यह डोरा अमूल्य है।

घनश्याम—न जाने क्यों, उस बालिका का ध्यान मेरे मन से नहीं उतरता।

अमरनाथ—उसकी सरलता तथा प्रेम ने तुम्हारे हृदय पर प्रभाव डाला है। भला उसका नाम क्या है ?

घनश्याम—नाम तो मुझे नहीं मालूम। भीतर से किसी ने उसका नाम लेकर पुकारा था। परन्तु मैं सुन न सका।

अमरनाथ—अच्छा, खैर। अब तुमने क्या करना विचारा है ?

घनश्याम—धैर्य धर कर चुपचाप बैठने के अतिरिक्त और मैं कर ही क्या सकता हूँ। मुझसे जो हो सका, मैं कर चुका।

अमरनाथ—हाँ, यही ठीक भी है। ईश्वर पर छोड़ दो। देखो क्या होता है।

(३)

पूर्वोक्त घटना हुए पाँच वर्ष व्यतीत हो गये। घनश्यामदास पिछली बातें प्रायः भूल गए हैं। परन्तु उस बालिका की याद कभी कभी आ जाती है। उसे देखने वे एक बार कानपुर गये भी थे। परन्तु उसका पता न चला। उस घर में पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह वहाँ से, अपनी माता सहित बहुत दिन हुये, न जाने कहाँ चली गई। इसके पश्चात् ज्यों ज्यों समय बीतता गया उसका ध्यान भी कम होता गया। पर अब भी जब वे अपना बक्स खोलते हैं तब कोई वस्तु देख कर चौंक पड़ते हैं और साथ ही कोई पुराना दृश्य भी आँखों के सामने आ जाता है।

घनश्याम अभी तक अविवाहित हैं। पहले तो उन्होंने निश्चय कर लिया था कि विवाह करेंगे हो नहीं। पर मित्रों के कहने और स्वयं अपने अनुभव ने उनका यह विचार बदल दिया। अब वे विवाह करने पर तैयार हैं। परन्तु अभी तक कोई कन्या उनकी रुचि के अनुसार नहीं मिली।

जेठ का महीना है। दिन भर की जला देने वाली धूप के पश्चात् सूर्यास्त का समय अत्यन्त सुखदायी प्रतीत हो रहा है। इस समय घनश्यामदास अपनी कोठी के बाग में मित्रों सहित

बैठे मन्द मन्द शीतल वायु का आनन्द ले रहे हैं। आपस में हास्यरसपूर्ण बातें हो रही हैं। बातें करते करते एक मित्र ने कहा—अजी अभी तक अमरनाथ नहीं आये ?

घनश्याम—वह मनमौजी आदमी है। कहीं रम गया होगा।

दूसरा—नहीं रम नहीं, वह आजकल तुम्हारे लिये दुलहन ढूँढ़ने की चिन्ता में रहता है।

घनश्याम—बड़े दिल्लगी बाज हो।

दूसरा—नहीं, दिल्लगी की बात नहीं है।

तीसरा—हाँ, परसों मुझसे भी वह कहता था कि घनश्याम का विवाह हो जाय तो मुझे चैन पड़े

ये बातें हो ही रही थीं कि अमरनाथ लपकते हुए आ पहुँचे।

घनश्याम—आओ यार, बड़ी उमर—अभी तुम्हारी ही याद हो रही थी।

अमरनाथ—इस समय बोलिये नहीं, नहीं एकाध को मार बैठूँगा।

दूसरा—जान पड़ता है, कहीं से पिट कर आये हो।

अमरनाथ—तू फिर बोला—क्यों ?

दूसरा—क्यों, बोलना किसी के हाथ क्या बेच खाया है ?

अमरनाथ—अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। एक आवश्यक बात है।

सब उत्सुक होकर बोले—कहो कहो, क्या बात है ?

अमरनाथ—(घनश्याम से) तुम्हारे लिए दुलहन ढूँढ़ ली है।

सब—(एक स्वर से) फिर क्या तुम्हारी चाँदी है।

अमरनाथ—फिर वही दिल्लगी। यार तुम लोग अजीब आदमी हो।

तीसरा—अच्छा बताओ, कहाँ ढूँढ़ी ?

अमरनाथ—यहीं, लखनऊ में।

दूसरा—लड़की का पिता क्या करता है ?

अमरनाथ—पिता तो स्वर्गवास करता है।

तीसरा—यह बुरी बात है।

अमरनाथ—लड़की है और उसकी माँ। बस, तीसरा कोई नहीं। विवाह में कुछ मिलेगा नहीं। लड़की की माता बड़ी गरीब है।

दूसरा—यह उससे भी बुरी बात है।

तीसरा—उल्लू मर गये; पट्ठे छोड़ गये। घर भी ढूँढ़ा तो गरीब। कहाँ हमारे घनश्याम इतने धनाढ्य और कहाँ ससुराल इतनी दरिद्र! लोग क्या कहेंगे ?

अमरनाथ—अरे भाई, कहने और न कहने वाले हमीं तुम हैं। और वहाँ उनका कौन बैठा है जो कहेगा।

घनश्याम ने एक ठंडी साँस ली।

तीसरा—आपने क्या भलाई देखी जो यह सम्बन्ध करना विचारा है।

अमरनाथ—लड़की की भलाई। लड़की लक्ष्मी-रूपा है। जैसी सुन्दर वैसी ही सरल। ऐसी लड़की यदि दीपक लेकर ढूँढ़ी जाय तो भी कदाचित् ही मिले।

दूसरा—हाँ, यह अवश्य एक बात है।

अमरनाथ—परन्तु लड़की की माता लड़का देखकर विवाह करने को कहती है।

तीसरा यह तो व्यवहार की बात है।

घनश्याम—और, मैं भी लड़की देखकर विवाह करूँगा।

दूसरा—यह भी ठीक ही है।

अमरनाथ—तो इसके लिए क्या विचार है!

तीसरा—विचार क्या, लड़की देखेंगे।

अमरनाथ—तो कब?

घनश्याम—कल।

(४)

दूसरे दिन शाम को घनश्याम और अमरनाथ गाड़ी पर सवार होकर लड़की देखने चले। गाड़ी चक्कर खाती हुई यहियागंज की एक गली के सामने जा खड़ी हुई। गाड़ी से उतरकर दोनों मित्र गली में घुसे। लगभग सौ कदम चलकर अमरनाथ एक छोटे से मकान के सामने खड़े हो गये और मकान का द्वार खटखटाया।

घनश्याम बोले मकान देखने से तो बड़े गरीब जान पड़ते हैं।

अमरनाथ—हाँ, बात तो ऐसी ही है, परन्तु यदि लड़की तुम्हारे पसन्द आ जाय तो यह सब सहन किया जा सकता है।

इतने में द्वार खुला और दोनों भीतर गए। सन्ध्या हो जाने के कारण मकान में अँधेरा हो गया था। अतएव ये लोग द्वार खोलने वाले को स्पष्ट न देख सके।

एक दालान में पहुँचने पर ये दोनों चारपाइयों पर बिठा

दिये गये और बिठाने वाली ने जो स्त्री थी, कहा—मैं जरा दिया जला लूँ।

अमरनाथ—हाँ, जला लो।

स्त्री ने दीपक जलाया और पास ही एक दीवार पर उसे रख दिया, फिर इनकी ओर मुख करके वह नीचे चटाई पर बैठ गई। परन्तु ज्योंही उसने घनश्याम पर अपनी दृष्टि डाली—एक हृदय भेदी आह उसके मुख से निकली—और वह ज्ञानशून्य होकर गिर पड़ी।

स्त्री की ओर कुछ अँधेरा था इस कारण उन लोगों को उसका मुख स्पष्ट न दिखाई पड़ता था। घनश्याम उसे उठाने को उठे। परन्तु ज्यों ही उन्होंने उसका सिर उठाया और रोशनी उसके मुख पर पड़ी त्यों ही घनश्याम के मुख से निकला—मेरी माता—और उठ कर वे भूमि पर बैठ गए।

अमरनाथ विस्मित हो काष्ठवत् बैठे रहे। अन्त को कुछ क्षण उपरान्त बोले—उफ ईश्वर की महिमा बड़ी विचित्र है। जिनके लिए तुमने न जाने कहाँ-कहाँ की ठोकरें खाईं वे अन्त को इस प्रकार मिले।

घनश्याम अपने को सँभाल कर बोले—थोड़ा पानी मँगाओ।

अमरनाथ—किससे मँगाऊँ। यहाँ तो कोई और दिखाई ही नहीं पड़ता। परन्तु हाँ, वह लड़की तुम्हारी—कहते अमरनाथ रुक गये। फिर उन्होंने पुकारा—बिटिया, थोड़ा पानी दे जाओ।—परन्तु कोई उत्तर न मिला।

अमरनाथ ने फिर पुकारा—बेटी तुम्हारी माँ अचेत हो गई हैं थोड़ा पानी दे जाओ।

इस 'अचेत' शब्द में न जाने क्या बात थी कि तुरन्त ही घर के दूसरी ओर बरतन खड़कने का शब्द हुआ। तत्पश्चात्

एक पूर्णवयस्का लड़की लोटा लिए आई। लड़की मुँह कुछ ढँके हुए थी। अमरनाथ ने पानी लेकर घनश्याम की माता की आँखें मुख धो दिया। थोड़ी देर में उसे होश आया। उसने आँखें खोलते ही फिर घनश्याम को देखा। तब वह शीघ्रता से उठ कर बैठ गई और बोली—ऐ, मैं क्या स्वप्न देख रही हूँ? घनश्याम क्या तू मेरा खोया हुआ घनश्याम है? या कोई और!

माता ने पुत्र को उठाकर छाती से लगा लिया और अश्रुविन्दु विसर्जन किये। परन्तु वे विन्दु सुख के थे अथवा दुख के कौन कहे?

लड़की ने यह सब देख सुन कर अपना मुँह खोल दिया और भैया भैया कहती हुई घनश्याम से लिपट गई। घनश्याम ने देखा—लड़की कोई और नहीं, वही बालिका है जिसने पाँच वर्ष पूर्व उनके राखी बाँधी थी और जिसकी याद प्रायः उन्हें आया करती थी।

❀ ❀ ❀ ❀

श्रावण का महीना है और श्रावणी का महोत्सव। घनश्याम दास की कोठी खूब सजाई गई है। घनश्याम अपने कमरे में बैठे एक पुस्तक पढ़ रहे हैं। इतने में एक दासी ने आकर कहा—बाबू भीतर चलो।—घनश्याम भीतर गये। माता ने उन्हें एक आसन पर बिठाया और उनकी भगनी सरस्वती ने उनके तिलक लगाकर राखी बाँधी। घनश्याम ने दो अशर्फियाँ उसके हाथ में धर दीं और मुस्कराकर बोले—क्या पैसे भी देने होंगे?

सरस्वती ने हँस कर कहा—नहीं भैया, ये अशर्फियाँ पैसों से अच्छी हैं। इनसे बहुत से पैसे आवेंगे।

---

(६)

रानी महामाया

[जैनेन्द्र कुमार जैन]

हेमवन्त नाम का एक द्वीप था। वहाँ रानी महामाया राज्य करती थीं। उनको पता नहीं था कि वह विधवा हैं या क्या? राजा वैजयन्त एक रोज आखेट के लिए कह कर गये थे और फिर न लौटे थे।

राजा ने कहा था—प्रिये, मैं आखेट के लिए जाता हूँ।

रानी ने पूछा—कब आओगे?

राजा ने कहा—'कब आऊँगा?' और किंचित् मुसकराये—'तुम को चिन्ता होती है, प्रिये? शंका होती है?'

रानी का प्रेम जैसे भीतर से एक साथ ही गम्भीर और वेदनामय हो गया। उसने कहा—जल्दी आना।

राजा वैजयन्त मुसकराये, चले गये, और फिर नहीं लौटे।

× × × ×

आखेटक ने कहा—महारानी जी महाराज तो नहीं मिले। हमें घनघोर वन में छोड़ कर जाने कहाँ चले गये।

अंग-रक्षकों ने कहा—महारानी जी, महाराज का पता नहीं है। और विलख-विलख कर रोने लगे।

आखेट पर महाराज के साथ गये हुए सब मन्त्री-साथियों ने कहा—महारानी जी, महाराज हमारे सबके देखते-देखते आँखों से ओझल हो गये हैं। उनका कोई पता नहीं मिलता।

प्रहरी ने कहा—राजमन्त्री पधारे हैं।

राजमन्त्री ने आकर कहा—महारानी जी, महाराज न जाने कहाँ चले गये हैं। प्रजा की आप माता हैं। प्रजा उद्विग्न है। आकर तनिक उसे सम्बोधन दीजिए। राजमुकुट स्वीकार करके प्रजा को सान्त्वना दीजिए। महारानी जी के मुकुटाभिषेक के महोत्सव के लिये वसन्त चतुर्थी की तिथि नियुक्त करने के विषय में रानी की क्या आज्ञा है ?

महामाया ने कहा—महामात्य, क्या वसन्त चतुर्थी की तिथि बहुत ही निकट नहीं है ? महामात्य, रानी महामाया की इच्छा है, आप अधिक करुणावान् हों, प्रजा से कहिये, रानी महामाया पर वह भी करुणा करे। महाराजा ही अभी महाराजा हैं। उनकी खोज छोड़ने की अभी आवश्यकता न समझिए। महामाया की इच्छा है कि उसका मुकुटाभिषेक न हो।

महामात्य ने कहा—महारानी प्रजा की माता हैं। उनके दुःख में प्रजा पीड़ित है। प्रजा चाहती है, महारानी स्वयं माथे पर राजमुकुट धारण करें और प्रजा को इस सुख-दर्शन का लाभ दें। प्रजावत्सल की महारानी महामाया से प्रजाजन अपना यह स्वत्व माँगते हैं।

महामाया ने कहा—सचिव, महामाया प्रजाजन की ही है। किन्तु कहो, धैर्य रखें। वे ऐसा चाहेंगे, तो सचिव यह भी

होगा; किन्तु रानी महामाया पर अकरुण होना उन्हें नहीं शोभा देता।

मन्त्री ने कहा—वसन्त चतुर्थी को महारानी जी के पुण्य-दर्शन की जनता में बहुत आशा बँध चुकी है। ऐसी अवस्था में क्या महारानी की इच्छा है कि प्रजा निराश की जाय?

रानी—मुझे दुःख है—

मन्त्री—प्रजा का आशीर्वाद महारानी को सुखी करे।

रानी—नहीं,नहीं, महामात्य!

मन्त्री—प्रजाजन महल के बाहर खड़े हैं। वे अपने उल्लास के सम्बन्ध में महारानी की अनुमति की प्रतीक्षा में हैं।

रानी—महामात्य!

मन्त्री—महारानी!

रानी—मन्त्रिश्रेष्ठ, प्रजा अपनी महारानी को क्या अपना सुख-दुःख समझने की स्वाधीनता नहीं देगी? क्या वैसी फुरसत अपनी रानी महामाया को प्रजा नहीं रहने देगी? मन्त्री, कहो, प्रजा रानी को क्षमा कर दे।

मन्त्री—क्या महारानी अपने जयघोष का नाद सुनती हैं? प्रजा महारानी जी की इच्छा जोह रही है।

(महारानी का मस्तक हाथों में है, बाल फैले हैं, विषाद में डूबी हैं)

रानी—ओह!

मन्त्री—महारानी महामाया!

रानी—(सावधान होकर) क्या प्रजा सहेगी कि उनकी

रानी, रानी न होकर उनकी गुलाम हो ? मन्त्री, क्या प्रजा में यह सामर्थ्य है। इतनी इच्छा है ?

मन्त्री—महारानी !

रानी—प्रजा के लिए रानी महामाया प्रजावत्सल होगी। वही महामाया प्रजा की आज्ञानुवर्तिनी होकर, मन्त्री, मुझे शंका है, प्रजा के लिए असह्य न हो जाय। महामात्य, प्रजा से कहो, करुणा श्रेष्ठ है, आनन्दोत्सुकता श्रेय नहीं।

मन्त्री—महारानी !

रानी—मन्त्री महाराजा वैजयन्त से प्रजा विस्मृति चाहती है ? स्मृति से छुट्टी चाहती है ? उनका अभाव मान लेकर उनके सिंहासन पर नये प्राणी को चाहती है ? वह अत्यन्त समुत्सुक है ? महाराजा के लोप हो जाने पर अत्यन्त विश्वस्त है ? महामात्य, क्या प्रजा सिंहासन पर कोई खिलौना अवश्य चाहती है ? क्या अपने दुःख के कोष को लुटाकर महामाया को यह बनना होगा ? प्रजा असंख्य है, क्या इसी से वह दया-धर्म से मुक्त होगी ? क्या इसीसे उसकी माँग अनुल्लंघनीय होगी ? क्या प्रजा प्रजा है, इसीसे उसकी इच्छा मेरे लिए आज्ञा बनेगी ? मन्त्री कहो रानी होने का क्या यह दण्ड है ! कहो, क्या वही सुनाने तुम यहाँ आये हो ? कहो, क्या यही तुम कहते हो कि इससे बचने का मार्ग नहीं है ?

मन्त्री—महारानी !

रानी—महामात्य, बोलो।

मन्त्री—मेरा आग्रह क्षम्य हो महारानी ! रानी महामाया की इच्छा ही मेरा व्रत हो।

रानी—तो प्रजाजन से कहो, महामात्य, वसन्त चतुर्थी को राज्याभिषेकोत्सव होगा। वे सन्तुष्ट हों, प्रस्तुत हों। महामाया को सिर पर मुकुट लेना होगा, तो वह उसे सिर पर लेगी, पीछे न होगी।...हे राम !

मन्त्री—महारानी !

रानी—आमात्य, तुम जाओ। रानी को अपने दुख-भोग का अवकाश नहीं ही है, तो न हो। उसे नहीं स्वाधीनता है, तो सुनो, आमात्य, वह राज्य करेगी। राज्य सावधान हो जावे।

मन्त्री—महारानी !

रानी—जो अनिवार्य है, हो। विधाता की इच्छा। संकट का क्या यह भी उपयोग करने का अवकाश व्यक्ति को न होगा कि यह उसे झेले, झेलकर चैतन्य बने, भक्त बने, दीन बने ? क्या रानी व्यक्ति नहीं है ? क्या रानी नारी नहीं है ? किन्तु महामात्य तुम निश्चिन्त जाओ, कह दो, वसन्त चतुर्थी को महामाया राजमुकुट लेगी। महाराजा, उसके स्वामी, कहाँ गये हैं, अगर प्रजा यह जानने और पाने को चिन्तित नहीं है, तो महामाया भी यह जानने और पूछने को उत्सुक नहीं दीखेगी। वह बनेगी रानी। सुनते हो, महामात्य ? जाओ और कह दो।

मन्त्री—(हाथ जोड़कर) महारानीजी से सेवक क्षमा माँगता है। प्रजा को समझा दिया जायगा। सेवक एक मार्ग देखता है। महारानी महामाया अपने भाई के पुत्र वसन्तद्युति को दत्तक स्वीकार करके क्या राज्यासन पर आसीन करने में सम्मत होंगी ?

रानी—नहीं आमात्य ! महामाया अबला क्यों होगी ?

और राज्यासन खाली क्यों होगा ? महाराजा का पुत्र नहीं है, किन्तु महाराजा की निष्पुत्रा रानी महामाया तो है। वह सब सहेगा। महाराजा वैजयन्त का सिंहासन किसी के आगे प्रार्थी नहीं बनेगा।...देखो, बाहर एकत्रित जनता महाराजा के अभाव पर कैसी मतवाली हो रही है। उनके कंठ का अंकुश जैसे उठ गया हो। अरे, क्यों वह महामाया के जयघोष से महामाया के कान फाड़ना चाहती है ? जाओ आमात्य, उन्हें सुनाओ अपने गलों को वे शान्ति दें। अबला महामाया वसन्त चतुर्थी को राज्य की रानी बनेगी।

(मन्त्री का प्रस्थान)

× × ×

इस प्रकार हेमवन्त द्वीप की रानी होकर महारानी महामाया राज्य करती थीं। दिन में राज्य-मुकुट पहनकर राज-सभा में राजतन्त्र चलाती थीं। रात में आकाश के तारों को गिनती हुई जागती थीं, और उन्हें गिनती-गिनती ही सो जाती थीं। महाराजा वैजयन्त का कहीं पता न चला था।

इधर राज्य में षड्यंत्र बन चले हैं। यह महामाया रानी बन कर यों निरंकुशा रहेगी ? अत्याचार क्या यों ही होते रहेंगे ? दैन्य क्या अपमानित ही होगा ? भूखों की चीख क्या कलपती ही जायगी, वह सुनी न जायगी ? यह महामाया कौन है ? इसके पास रानी का कोई पट्टा लिखा हुआ नहीं है। यह स्त्री है कि राक्षसी है ! हेमवन्त द्वीप को इससे मुक्त करना होगा। गुप्त समितियाँ बनने लगीं और गुप्त मन्त्रणाओं ने बल पकड़ा। युवक आदर्श सीखने और सिखाने लगे। बलिदान का महत्त्व आविष्कृत हुआ।

× × ×

महामात्य ने आकर कहा—महारानी, प्रजा में विद्रोहियों का प्रभाव बढ़ता जाता है। आज्ञा दीजिए, विद्रोहियों के सम्बन्ध में अधिक शोध की जा सके। उस ओर अब अत्यधिक सतर्कता भी कम हो सकती है। महारानी आज्ञा दीजिए, मैं कानून...

रानी—महामात्य, कानून का पालन करो। उसका अक्षर अक्षर पालन हो। लेकिन कानून में जिन्हें शंका है, उसमें परिवर्तन जिनका लक्ष्य है, राजनैतिक जिनकी प्रेरणा है, उनका दमन न होगा। विद्रोहियों का प्रभाव बढ़े, लेकिन साधारण न्याय से अधिक कोई अधिकार, कोई अस्त्र मैं तुमको न दूँगी।

मन्त्री—महारानी, कुछ अतिसांघातिक सूचनाएँ मैंने पाई हैं। लिखित प्रमाण मेरे पास हैं। कागजों का एक बड़ा पुलिन्दा देते हुए) महारानी, आप इन्हें देखें। आपके अति विश्वासी लोग आपके शत्रु हैं।

रानी—(कागजों को स्थिरता के साथ फाड़ते हुए) आमात्य मेरे विषय में इतने चिन्तित न बनो। क्रान्ति से षड्यन्त्रकारी क्यों डरते हैं, यही मुझे आश्चर्य है। क्या तुम महामात्य, दिखाना चाहते हो कि तुम भी डरते हो ? भय संहार का हेतु है। निर्भय रहने से संहार की आवश्यकता निःशेष होगी। महामात्य, मुझे दीखता है, षड्यन्त्रकारियों की भीरुता कुछ बलि लेगी। महामात्य, उन बेचारे षड्यंत्रकारियों को क्या किसी प्रकार निर्भीक नहीं बनाया जा सकता !

मन्त्री—महारानी !

रानी—मुझे क्यों न न्यायाधीश के समक्ष लाने की वे माँग करें ? यह क्यों नहीं समझा जा सकता कि रानी होकर

महामाया एक व्यक्ति है? कि रानी होकर किसी कानून से वह छूटी नहीं है। ईश्वर का कानून अमोघ है, अनिवार्य है। महामात्य इस जानकारी को सर्वप्राप्य बनाओ।

मन्त्री—मैं महारानी जी की सेवा में चेतावनी देने आया था। महारानी उसे लेना अस्वीकार करती हैं। महारानी ने मेरे कर्तव्य की भी मर्यादा बाँध दी है। यदि राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र रचने वालों को महामात्य व्यर्थ नहीं कर सकता तो वह महामात्य किस लिए है? महारानी की रक्षा नहीं कर सकता, तो सेवक किस लिए है! मैं महारानी का आमात्य होकर नहीं सह सकता कि महारानी के अनिष्ट को न रोक सकूँ। उस अनिष्ट के मार्ग में अवरोधक न बनना, महारानी, सहायक बनना है। महारानी इसलिए मुझे अपने पद से मुक्त होने दें।

रानी—महामात्य!

मन्त्री—महारानी!

रानी—आमात्य, तुम इस समय छुट्टी चाहते हो? क्या मैं कहूँ—अच्छा? क्या मैं महाराज वैजयन्त की तुम्हें याद दिलाऊँ, जिनके मात्र उत्तराधिकारी बने हम यहाँ बैठे हैं? फिर भी तुम छुट्टी चाहते हो—तो—

मन्त्री—महारानी!

रानी—महामात्य, जाओ, मेरी चिन्ता न करो। इन कागजों की भी चिन्ता न करो, ये जल जायँगे। षडयंत्रकारियों की खबर रखो; पर यदि प्रजा को हानि नहीं करते, तो उनकी स्वतन्त्रता पर तनिक विकार न लाया जा सकेगा। महामात्य, यों हम तुम सबको क्या अनन्त काल तक जीना है?

मन्त्री—महामाया रानी !

(रानी ने जाने का संकेत किया। महामात्य, चले गये।)

× × ×

अगले प्रातःकाल नगर भर में लाल-लाल अक्षरों में पत्रक चिपके हुए मिले, जिनमें लिखा था कि राज्य के मद में मत्त हुई रानी महामाया का अन्तकाल निकट है। प्रजा को जाग्रत होना चाहिए। सत्य की ही सदा जय होगी, अत्याचारी को नीचा देखना होगा। प्रजाजन उठो, बलि होओ: पर अपना स्वत्व प्राप्त करो।···आदि।

महामात्य ने महारानी की सेवा में उस पत्री की प्रति पेश करते हुए निवेदन किया—देखिए, महारानी जी आपकी क्षमा का परिणाम यह है।

रानी—आमात्य, प्रबन्ध यह करो कि रक्तपात न हो !

मन्त्री—क्या प्रबन्ध करना होगा, माता ?

रानी—क्या प्रबन्ध ? घोषणा कर दो कि चौबीस प्रहर के भीतर राज्यवासी सोच देखें, वे क्या चाहते हैं। उस समय के भीतर सब स्वतन्त्रता उन्हें है। उसके बाद रानी महामाया रानी नहीं रहेगी। शासन का जो तन्त्र बनेगा, रानी उसके हाथ में होगी, उसके न्याय के समक्ष होगी। प्रजा आत्म-निर्णय करे। रानी को चौबीस प्रहर बीतने के बाद वह किसी भी प्रकार रानी नहीं पा सकेगी।

मन्त्री—माता महामाया !

और विह्वल, अवश, महामात्य को महामाया ने उसके कर्तव्य की ओर भेज ही दिया।

× × × ×

महामाया ने प्रबन्ध किया कि षड्यंत्रकारियों की भीरुता नष्ट हो। वे निर्भीक बनकर सामने आवें। अपने अन्तर्हित हो जाने की बात उसने नहीं सोची। प्रत्युत् षड्यंत्रकारियों के हाथों स्वयं दण्डित होने की अनिवार्यता उसने उपस्थित की। उसने व्यवस्था की कि सार्वजनिक वधस्थल पर जाकर उसका सिर उतारा जाय। इस प्रकार रानी महामाया की मुक्ति हुई।

---

(७)

निंदिया लागी

[भगवती प्रसाद बाजपेयी]

कालेज से लौटते समय मैं अक्सर अपने नये बँगले को देखता हुआ घर आया करता। उन दिनों वह तैयार हो रहा था। एक ओवरसियर साहब रोजाना, सुबह-शाम, देख-रेख के लिए आ जाते थे। वे मझले-भैया के सहपाठी मित्रों में से थे। लम्बा कद, गौर वर्ण, लम्बी नाक—खूबसूरत और मुख पर उल्लास का अभिनव आलोक। गम्भीर भी होते, तो प्रायः मालूम यही होता कि मुसकरा रहे हैं।

नाम उनका बेनीमाधव था। और अवस्था? अवस्था उनकी अब पैंतालिस वर्ष से ऊपर जान पड़ती थी। मिस्त्री और मजदूर सब मिला कर, कोई पचीस-तीस व्यक्ति काम कर रहे थे। मजदूरों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं।

एक दिन मैंने देखा छत कूटी जा रही है। कूटने वालों में स्त्रियाँ ही हैं; अधिकांश रूप से। दो पुरुष भी हैं, लेकिन वे जरा हटकर, एक कोने में हैं। स्त्रियाँ छत कूटती हुई एक गाना गा रही हैं। यों उनका गायन कुछ विशेष मधुर नहीं है, किन्तु अनेक सम्मिलित स्वरों के बीच में एक अत्यन्त कोमल स्वर भी

है। तभी मैं उनके पास जाने को तत्पर हो गया। मुझे देखना था कि वह जो गाना गा रही है और जिसका कंठ इतना मधुर है, उसका रूप भी कुछ है या नहीं। मैं मानता हूँ कि यह मेरी दुर्बलता थी; किन्तु उन दिनों मेरी समझ में यह बात कैसे आती !

एकाएक पहले तो ओवरसियर साहब सामने आ गये। बोले—आ गये छोटे-भैया !

मैंने उनकी ओर देख कर जरा-सा मुसकरा दिया और कहा—जान तो मुझे भी ऐसा ही पड़ता है।

हँसते हुए उन्होंने तब कहा—लेकिन दर-असल आप आये नहीं। आप समझते हैं दुनिया की नजरों में जो आप यहाँ मौजूद हैं, इतने से ही मैं मान लूँ कि आप पूरे सोलह-आने-भर आ गये हैं ? और जो कहीं आप अपना 'कुछ' छोड़ आये हों तो ?

वे तब इतना कहते-कहते मेरे निकट—बिलकुल निकट आ गये ! बोले—जब मैं अपने इंजीनियरिंग कालेज में पढ़ता था, तब मैं कैसा था, सच जानिये, आपको देख कर जब मुझे उसकी याद आ जाती है, तो जी मसोसने लगता है। तबीयत चाहती है कि अपने को क्या कर डालूँ, जिससे कुछ शान्ति मिले। लेकिन फिर यही सोचकर सन्तोष कर लेता हूँ कि मनुष्य की तृष्णा का अन्त नहीं है। न आकाश में, न महासागर के अतल में, न गिर-गह्वर में—संसार में कहीं भी, कोई ऐसा स्थान नहीं मिल सकता, जहाँ पहुँच कर मनुष्य कामना से मुक्त हो सके।

बेनी बाबू के मुख पर अगमनीय गम्भीरता की छाप थी, यद्यपि अपने विमल हास से वे उसे छिपाना चाहते थे। मैंने

कहा—आप मेरे अध्ययन की चीज हैं, यह मुझे आज मालूम हुआ।

एक ओर चलते हुए वे बोले—अभी आपको कुछ भी नहीं मालूम हुआ है।

किन्तु बेनी-बाबू की इतनी-सी बात से मेरे मन का कुतूहल अभी शान्त नहीं हो पाया था, इसलिये मैं उनके पीछे-पीछे चल दिया।

घूमते, काम देखते हुए, एक मिस्त्री के पास जाकर वे खड़े हो गये। वह आर्च (Arch) बनाने जा रहा था। बोले—देखो जी मिस्त्री, पत्तियाँ और फूल बनाना ही काफी नहीं है। टहनी और उसमें उभड़े हुए काँटे भी दिखाने होते हैं। माना कि नकल नकल है, असल चीज वह कभी हो नहीं सकती; किन्तु असल चीज की जो असलियत है, गुण के साथ दुर्गुण भी, नकल में यदि उसको स्पष्ट न किया जा सका, तो वह नकल भी नकल नहीं हो सकती। बनाने में तुमको अगर दिक्कत हो, तो मैं नमूना दे जा सकता हूँ, लेकिन मेरी तबीअत की चीज अगर तुम न बना सके, तो मैं कह नहीं सकता कि आगे चल कर तुम्हें उसका क्या फल भोगना पड़ेगा।

मिस्त्री वृद्ध था। उसके बाल पक गये थे। उसकी आँखों पर पुराने चाल का चश्मा चढ़ा हुआ था। बड़े गौर से वह बेनी बाबू की ओर देखने लगा; लेकिन उसने कुछ कहा नहीं। तब बेनी बाबू वहाँ और अधिक ठहर न सके।

अब वे आँगन में एक टब के पास खड़े थे। नल का पानी टब में गिर रहा था। मैं थोड़ा पीछे था। जब उनके निकट पहुँचा, तो वे बोले—आपने इस मिस्त्री की आँखों को देखा?

वह कुछ कह नहीं सका था; लेकिन उसकी आँखों ने जो बात कह दी, मैं उसे सहन नहीं कर सका। वह समझता है, मैंने फल भोगने की बात कह के उसको चोट पहुँचाने; उसका अपमान करने, की चेष्टा की है; किन्तु वह नहीं जानता, जान भी नहीं सकता, कि मेरी बात का कोई उत्तर न देकर उसने मुझ पर कैसा भयंकर आघात किया है? एक वह नहीं, मालूम नहीं, कितने आदमी आपको ऐसे मिल सकते हैं, जो मुझे गलत समझते हैं। आज पन्द्रह वर्षों से, बल्कि और भी अधिक काल से, मुझे जहाँ कहीं भी मकान बनवाने का काम पड़ा है, मैंने उस मिस्त्री को अवश्य बुलाया है। मैंने काम के सम्बन्ध में कभी-कभी तो उसे इतना डाँटा है कि वह रो दिया है, तो भी कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि उसने मुझे सीधा उत्तर दिया हो। उसका वही पुराना चश्मा है, वैसी ही भीतर तक प्रविष्ट हो जाने वाली आँखें। उसने कभी मजदूरी मुझसे तय नहीं की। और कभी ऐसा अवसर नहीं आया, जब काम समाप्त हो जाने पर मजदूरी के अतिरिक्त, उसने दस-पन्द्रह रुपये पुरस्कार न प्राप्त किये हों। किन्तु इन सब बातों को अच्छी तरह समझते हुए भी डाँटना तो पड़ता ही है, क्योंकि उससे कलाकार की सुप्त कल्पना को जागरण मिलता है।

अब बेनी-बाबू घूमते-फिरते वहीं जा पहुँचे, जहाँ स्त्रियाँ छत कूट रही थीं। उन्होंने एकाएक जो हैटधारी हम लोगों को देखा तो उनका गाना बन्द हो गया। तब मेरे मन में आया कि इससे तो यही अच्छा था कि हम लोग यहाँ न आते। और कुछ नहीं, तो संगीत का वह मृदुल स्वर तो कानों में पड़ता। और वह संगीत भी कैसा?—एकदम असाधारण। उसकी टेक तो कभी भूल ही नहीं सकती। जैसी ही नन्हीं वैसी ही भोली।

'निंदिया लागी मैं सोय गई गुइयाँ !'

बेनी-बाबू ने खड़े-खड़े इधर-उधर देखा और कहा—देखो इधर, इस तरह नहीं पीटना होता कि चोटों की आवाज का सिलसिला बिगड़ जाय। मुगरी की आवाज, सारी-की सारी एक बारगी, एक साथ होना चाहिए। और देखो, आज इस छत की पिटाई का काम खतम हो जाना चाहिए।

रामलखन बोला—सरकार, आज कैसे पूरा होगा? दिन ही कितना रह गया है!

'बको मत रामलखन! काम नहीं पूरा होगा, तो पैसा भी पूरा नहीं होगा। समझते हो न? काम का ही दूसरा नाम पैसा है।'

रामलखन चुप रह गया।

बेनी-बाबू भी चल दिये। लेकिन चलने के साथ ही पिटाई की आवाज, उसकी धमक, उसकी गति और चूड़ियों की खनक और 'निंदिया लागी' का स्वर अतिशय गम्भीर हो गया। मैंने बेनी-बाबू से कहा—आप काम लेना खूब जानते हैं।

वे हँसते-हँसते बोले—मैं जानता बहुत-कुछ हूँ छोटे-भैया, लेकिन जानना ही काफी नहीं होता। ज्ञान से भी बढ़ कर जो वस्तु है, उसको भी तो जानना होता है। और उसे मैं अभी तक जान नहीं सका।

मैंने पूछ दिया—वह क्या?

वे बोले—सत्य का ग्रहण।

मैंने कहा—सिर्फ पहेली न कहिए, उसे समझाते भी चलिए।

वे तब एक पेड़ के नीचे, सड़क पर ही एक ओर, कुर्सियाँ

डलवा कर, बैठ गये और बोले—ये स्त्रियाँ, जो यहाँ मजदूरी करने आई हैं, कितने सबेरे घर से चली हैं और कब पहुँचेंगी। कोई घर में अपने बच्चों को छोड़ आई हैं, किसी का पति खेत में काम करने गया होगा। किसी के कोई होगा हा नहीं। और काम करते-करते इनको अगर उनकी सुधि आ जाती है और काम की गति में क्षणिक मन्दता उत्पन्न हो ही उठती है, तो वह भी आज की हमारी इस सामाजिक व्यवस्था को सहन नहीं है। और तारीफ यह है कि हम समझ लेते हैं कि हम बड़े ज्ञानी हैं। हम यही देखकर सन्तोष कर लेते हैं कि जो स्त्री यहाँ पर मजदूरी कर रही है, हमको सिर्फ उसी से मतलब है, उसी की मजदूरी हम दे रहे हैं; किन्तु हम यह सोचने की जरूरत ही नहीं समझते कि वह स्त्री अपने जगत् को लेकर क्या है। जो बच्चा उसने उत्पन्न किया है, वह भी तो अपने-पालन-पोषण का भार अपनी माँ पर रखता है; पर हम लोग यहाँ तक सोचना ही नहीं चाहते। हमारे स्वार्थों ने सत्य को कितनी निरंकुशता के साथ दबा रखा है!

बेनी-बाबू चुप हो गये। एक ओर खुले अम्बर में, विहंगावलियाँ अपने पंखों को फैलाए, नितान्त निर्बन्ध, हँसी-खुशी के साथ, उड़ी चली जा रही थीं। एक साथ हम दोनों उधर देखने लगे। किन्तु बराबर उधर देखने के बदले मैंने एक बार फिर बेनी-बाबू को ही देखा। उनके मस्तक के ऊपर चँदोवा खुल आया था। उसमें नन्हें-नन्हें एक-आध बाल ही अवशिष्ट थे। वे अब सांध्य आलोक में चमक रहे थे। उनकी खुली आँखें यद्यपि चश्में के भीतर थीं, तो भी मुझे—प्रतीत हुआ, जैसे वे कुछ और भी फैल गई हैं। इसी क्षण वे बोले—अब यह काम आगे न करूँगा। लेकिन . ।

उनका यह वाक्य अधूरा रह गया। जान पड़ा, वे कोई निश्चय कर रहे हैं और रुक-रुक जाते हैं। रुक इसलिए नहीं जाते कि रुकना चाहते हैं। रुक इसलिए जाते हैं कि रुकना नहीं चाहते।

तभी वे फिर बोले—तुम उस बात को अभी समझ नहीं सकोगे, लेकिन ऐसी बात नहीं है कि उस बात के समझने की तुम्हारी क्षमता कुन्द है। देखता हूँ, तुम विचारशील हो और तभी मैं कहना भी चाहता हूँ कि आदमी तो अपने विश्वासों को लेकर खड़ा है, लेकिन जो आदमी अपने विश्वासों को लेकर भी नहीं खड़ा होता, वह भी क्या आदमी है? वह आदमी नहीं है। वह पशु है—पशु। लेकिन कैसे कहूँ कि पशु भी अपने विश्वासों के विरुद्ध खड़ा हो सकने वाला प्राणी है। वह तो... वह तो, बल्कि अपनी प्रवृत्तियों का ही स्वरूप होता है। और यह मनुष्य छिः इससे भी अधम क्या कोई स्थिति है!

मैंने देखा, यह वातावरण तो अब अतिशय गम्भीर हो गया है! और उन दिनों इस तरह की निरी गम्भीरता मुझे जरा कम पसन्द आती थी; बल्कि साथी लोग जब ऐसे व्यक्तियों का मजाक उड़ाते, तो उस दल में मैं भी सम्मिलित हो जाया करता था। बात यह थी कि उस समय एक दूसरा दृष्टिकोण हम लोगों के सामने रहता था। हम सब यही मानते थे कि जीवन तो एक हँसी-खेल की चीज है। सर्वथा अनिश्चित और चरम अकल्पित जीवन के थोड़े-से दिनों को रोना रोने या सोच-विचार में निपीड़ित-निर्जीव कर डालने में कौन-सी महत्ता है?

इसीलिए मैंने कह दिया—इन लोगों के गाने में बीच का यह—हाँ, यह स्वर मुझे बड़ा कोमल लगता है।

निमेषमात्र में, सम्यक् बदल कर—

'जाओ नजदीक से जाकर सुन आओ। हैट यहीं रख जाओ। फिर भी अगर वे गाना बन्द कर दें, तो कहना—काम में हर्ज नहीं होना चाहिए; क्योंकि गाने के साथ छत कूटने का काम अधिक अच्छा होता है, ऐसा मैं सुनता आया हूँ।'—बेनी-बाबू ने मुसकराते हुए कहा।

मैं चला गया। चुपचाप—बहुत धीरे-धीरे, पैर सँभाल-सँभाल कर। तो भी उनको मालूम हो ही गया। काम की गति में कुछ तीव्रता जरूर जान पड़ी, किन्तु गाना बन्द हो गया।

मैंने कहा—तुम लोगों ने गाना क्यों बन्द कर दिया ?

खिलखिल के कुछ मदिर कलहास ! कभी इधर—कभी उधर।

किसी ने अपनी सखी से कहा, उसे जरा-सा धक्का देकर—गा री पत्ती, चुप क्यों हो गई ?

'तू ही क्यों नहीं गाती ? छोटे-भैया के सामने...'

'हूँ, बड़ी लाजवन्ती बनी है ! जैसे दुलहे का मुँह ही न देखा हो !

मैंने कहना चाहा—लड़ो मत। मैं चला जाता हूँ। लेकिन मैं कुछ कह न सका। चुपचाप चला आया। चला तो आया; किन्तु उस खिलखिल और अपने सामने गाने से लजाने वाली उस पत्ती को मैंने फिर देखने की चेष्टा नहीं की।

कैसे उल्लास के साथ आया था; किन्तु कैसा भीषण द्वन्द्व लेकर चल दिया।

बेनी-बाबू ने बड़े प्यार से पूछा—कह जाओ।

मैंने कहा—क्या कह जाऊँ ? वही बात हुई। उन लोगों ने गाना बन्द कर दिया।

'फिर तुमने वह बात नहीं कही ?'

'उसे मैं कह नहीं सका।'

'तो यह कहो कि तुम खुद ही लजा गये !'

मैं चुप रहा। जिसने कभी चोरी नहीं की, जो यह भी नहीं जानता कि चोरी की कैसे जाती है, वह चीज क्या है, यदि वह कभी उसके दलदल में पड़ जायगा, तो उससे सफाई के साथ निकल ही कैसे सकेगा ? वह तो निश्चय पूर्वक फँस जायगा। वही गति मेरी हुई। क्या मैं जानता था कि बेनी-बाबू मुझे ऐसी जगह ले जायँगे, जहाँ पहुँच कर फिर मुक्ति का कोई मार्ग ही दृष्टिगत न होगा !

बेनी-बाबू बोले—अच्छा, एक काम कर आओ। रामलखन से कहना, अगर आज यह काम किसी तरह पूरा होता न दीख पड़े, तो कल ही पूरा कर डालना ठीक होगा। बेनी-बाबू से मैंने कह दिया है कि मजदूरों से उतना ही काम लिया जाय, जितना वे कर सकें।

मैं उनकी ओर देखता रह गया। मेरे मन में आया—यह आदमी है कि देवता।

मुझे अवाक् देखकर उन्होंने पूछा—सोचते क्या हो ?

मैंने कहा—कुछ नहीं। इतने दिन से आपका परिचय प्राप्त है; किन्तु कभी ऐसा अवसर नहीं आया कि आपको इतने निकट से देख पाता।

वे बोले—यह सब कोई चीज नहीं है छोटे-भैया ! न्याय और सत्य से हम कितने दूर रहते हैं, शायद हम खुद नहीं

जानते। ..अच्छा जाओ, जो काम तुम्हें दिया गया है, उसको पूरा तो कर आओ।

मैं फिर उसी छत पर जा पहुँचा; पर अब की बार मैंने देखा, गाना चल रहा है। लेकिन एक ही गाना तो दिन-भर चल नहीं सकता। तो भी मुझे उसी गाने के सुनने की इच्छा हो आई। साथ ही मैंने यह भी सोच लिया कि अभी कुछ समय पहले बेनी-बाबू ने कहा था, मनुष्य की कामनाओं का अन्त नहीं है।

मैंने जो रामलखन को बुलवाया, तो वह सिटपिटा गया। बोला—छोटे सरकार, क्या हुक्म है?

मैंने कहा—बेनी-बाबू क्या तुम लोगों से कुछ ज्यादा सख्ती से काम लेते हैं?

वह चुप ही बना रहा, सत्य-कृष्ण कुछ भी नहीं कह सका। तब मैंने समझ लिया, डर के कारण वह उनके विरुद्ध कुछ कहना नहीं चाहता, इसीलिए चुप है; लेकिन जब मैंने कहा—मैं उनसे कुछ कहूँगा नहीं। मैं तो सिर्फ असल बात जानना चाहता हूँ। बिलकुल निडर होकर बतलाओ।

तब उसने कहा—काम सख्ती से लेते हैं, तो मजदूरी भी तो दो पैसा ज्यादा और वक्त पर देते हैं। ऐसे मालिक मिलें तो मैं जिन्दगी भर उनकी गुलामी करूँ।

मैंने कहा—तुम ठीक कहते हो। उन्होंने मुझसे कहला भेजा है कि अगर काम आज नहीं पूरा होता है, तो कल ही पूरा कर डालना। ज्यादा तकलीफ उठाने की जरूरत नहीं है।

रामलखन बोला—पर छोटे भैया, उन्होंने पहले ही बहुत सोच-समझ कर हुकुम दिया था। काम अगर आज पूरा न होता, तो कूटने के लिए चूना कल हम लोगों को इस हालत

में न मिलता। वह सूख जाता। तब उस पर कुटाई ठीक तरह से कैसे होती? इसके सिवा कल गुड़ियों का त्योहार है—छुट्टी का दिन है। मैंने पीछे जो सोचा, तो मुझे इन सब बातों का ख्याल आ गया। काम पूरा हो जायगा। बहुत कुछ तो हो भी गया है। थोड़ा-सा ही बाकी रह गया है। वह भी शाम होते-होते पूरा हो जायगा। तकलीफ तो थोड़ी हुई—किसी-किसी के हाथों में छाले पड़ गये; लेकिन यह बात आप उनसे जाकर न कहें सरकार, इतनी बात मेरी भी रख लें।

रामलखन की बात मान कर सचमुच मैंने बेनी-बाबू से यह नहीं कहा कि स्त्रियों के हाथों में छाले पड़ गये हैं।

किन्तु उसी दिन, सायंकाल।

एक ओर जीने की दीवार गिर गई। छुट्टी हो गई थी। मजदूर लोग इधर-उधर से आ आकर जाने लगे थे कि अररर धम् का भीषण स्वर और एक क्षीण 'आह!'

लोग दौड़ पड़े। लोग गिने भी गये। सब मिलाकर उन्तीस आदमी आज काम पर थे; लेकिन हैं केवल सत्ताइस!

—तो दो आदमी दब गये, क्या?

—हाँ, यह हलका स्वर जो आ रहा है! यह!—यह!

ईटें उठाई जाने लगीं, तो एक स्त्री ने कहा—हाय! पत्ती है—पत्ती। तभी मैं सोच रही थी—वह दीख नहीं पड़ती, शायद आगे निकल गई! हाय यह तो चल बसी!

उससे कौन कहता कि हाँ, वह आगे निकल गई!

लेकिन एक क्षीण स्वर तब भी ध्वनित होता रहा!

—अरे और उठाओ ईटों को। हाँ, इस खंजड़ को। अभी एक आदमी और भी तो है।

एक साथ कई आदमियों ने मिलकर एक दीवार के टुकड़े को उठाया। वह ईंटों के ऊपर गिरा था और बीच में थोड़ी जगह शेष रह गई थी। उसी में मुड़ा हुआ अचेत मिला गिरिधर!

कुछ दिनों में गिरिधर अच्छा हो गया। उसकी एक रीढ़ टूट गई थी; लेकिन उसका जीवन उसकी रीढ़ से अधिक बलिष्ठ था।

उस बँगले को, फिर आगे, बेनी-बाबू नहीं बनवा सके। कुछ दिनों तक काम बन्द रहा और वे बीमार पड़ गये।

मनुष्य का यह जीवन क्या इतना अस्थिर है! क्या वह फूल के दल से भी अधिक मृदुल है? क्या वह छुई-मुई है? उन दिनों मैं यही सोचता रहा था। वे बीमार थे, और उनकी बीमारी बढ़ती जाती थी। मैं देख रहा था, शायद बेनी-बाबू तैयारी कर रहे हैं! लेकिन एक दिन मैंने उन्हें दूसरे रूप में देखा। मैंने देखा कि मृत्यु को उन्होंने मसल डाला है, पीस डाला है! वह छटपटा रही है! वह भाग जाना चाहती है!

वे एक पलँग पर लेटे हुए थे; बहुत धीरे-धीरे बातें कर रहे थे। उनके पास एक नौजवान बैठा हुआ था। वह मौन था, और बेनी-बाबू उससे कुछ पूछ रहे थे। उसी क्षण मैं पहुँच गया। वे उठने को हुए, तो नौकर ने उन्हें उठा दिया और उनके पीछे तकिये लगा दिये। पहले आँखों पर चश्मा नहीं था। अब उन्होंने चश्मा चढ़ा लिया।

संकेत पाकर मैं उनके पास ही कुरसी डालकर बैठ गया था।

वे बोले—सुनते हो मुल्लू, मैं तुमको रोने नहीं दूँगा। रोने दूँ, तो मैं अपने को खो दूँगा। लेकिन मैं इतना सस्ता नहीं हूँ।

मैं मरना नहीं चाहता, इसीलिए मैं तुमको प्रसन्न देखना चाहता हूँ। बतलाओ, तुम किस तरह से प्रसन्न हो सकते हो? मैं और साफ कर दूँ? मैं तुमको कुछ देना चाहता हूँ। बोलो, तुम कितने रुपये पाकर खुश हो सकते हो? लेकिन तुम यह सोचने की भूल न करना कि वे रुपये तुम्हारी स्त्री की कीमत हैं। एक स्त्री—एक नवयुवती, एक सुन्दरी—को क्या रुपयों से तोला जा सकता है? छिः, यह तो एक मूर्खता की बात है—जंगलीपन की। लेकिन मैंने अभी तुमको बतलाया न, मैं तुमको खुश करना चाहता हूँ।

—'ओह एक नवयुवती—एक सुन्दरी!'

—तो क्या पत्नी सुन्दर थी?

—तो उसका कंठ ही कोमल न था, वरन्...

बेनी-बाबू बोले—मैं जानता हूँ, तुम कुछ कहोगे नहीं।

अच्छा, तो मैं ही कहे देता हूँ—उसके बच्चे की परवरिश के लिए, दस रुपये हर महीने मुझसे बराबर ले जाया करना! समझे! यह···लो दस रुपये! आज पहली तारीख है। हर महीने की पहिली तारीख को ले जाया करना।

जेब से नोट निकाल कर उन्होंने मुल्लू के आगे फेंक दिया। मुल्लू तब कितना खुश था, इसको मैंने जाना। किन्तु बेनी-बाबू ने जितना कुछ जाना, उसको मैं न जान सका।

मुल्लू जब छलकते आनन्दाश्रुओं के साथ चल दिया, तो बेनी-बाबू बोले—मेरा खयाल है, अब यह खुश रहेगा। क्यों? तुम क्या सोचते हो?

मैं चकित था, प्रतिहत था, अभिभूत भी था, तो भी मैंने कह दिया—आपने यह क्या किया?

'ओह, तुम मुझसे पूछते हो, छोटे भैया!—यह क्या किया!

यह मैंने अपने को भुलाने के लिये किया है; क्योंकि मनुष्य अपने को भुलावे में रखने का अभ्यासी है! मैंने देखा—मैं एक भूल कर रहा हूँ!—मैं मृत्यु को बुला रहा हूँ। तब मैंने सोचा—मैं ऐसी भूल नहीं करूँगा, जिसमें अपने आपको भी मैं भुला सकूँ! जीवन में एक ऐसा क्षण भी आता है, जब हमको अपने-आपको भुलाना पड़ता है। यह मेरा ऐसा ही क्षण है। लेकिन यह मेरी भूल नहीं है। यह तो मेरा नवजीवन है—जागरण।'

यह कथा यहीं समाप्त हो गई है। किन्तु इस कथा के प्राण में जो अन्तर्कथा है, उसी की बात कहता हूँ। उपर्युक्त घटना के पीछे कुछ वत्सर और जुड़ गये हैं। यह बँगला अब मुझे रहने के लिये दिया गया है। मैं अब अकेला ही इसमें रहता हूँ। कई सहस्र पुस्तकों के महत् ज्ञान से आवृत मैं—लोग कहते हैं—प्रोफेसर हूँ! जीवन और जगत् का तत्त्वदर्शी। लेकिन मैं अपनी समस्या किससे कहूँ—अपना अन्तर किसको खोलकर दिखलाऊँ! बच्चे सुनें तो हँसे और बीबी सुने तो कहे—पागल हो गये हो।

कभी-कभी रात के घोर सन्नाटे में स्वप्नाविष्ट-सा मैं कुछ अस्पष्ट-ध्वनियाँ सुनने लगता हूँ। कोई खिलखिल हँस रही है। कोई धक्का देकर कह रही है—गा री पत्ती और चूड़ियाँ खनक उठती हैं, छत कुटने लगती है और एक कोमल, अत्यन्त कोमल गायन-स्वर फूट पड़ता है—निंदिया लागी...।

और उसके हाथों में जो छाले पड़ गये हैं, वे वहाँ से उठ कर मेरे हृदय से आकर चिपक गये हैं!

———

(८)

मैना

[राधाकृष्ण]

अलियार जब मरा तो दो पुत्र, छोटा-सा घर और थोड़ी-सी जमीन छोड़कर मरा। दसवें के दिन दोनों भाई क्रिया-कर्म समाप्त करके सिर मुँड़ाकर आये, तो आने के साथ ही बटवारे का प्रश्न छिड़ गया, और इस समस्या के समाधान के लिए इतने जोरों से लाठियाँ चलीं कि दोनों भाइयों के मुंडित मुंड फूट गए।

दोनों भाइयों ने इस प्रकार एक दूसरे का सिर फोड़कर अपना-अपना अपमान मान लिया। बड़े भाई 'मुसाफिर' की धारणा थी कि छोटे भाई ने सिर फोड़कर मेरा बड़ा भारी अपमान किया है। छोटे भाई 'जगन' की भी यही शिकायत थी कि बड़के भइया ने बड़ी मजबूत लाठी से मेरा अपमान किया है। दोनों ने प्रतिज्ञा की कि इस अपमान का बदला नहीं लिया, तो मेरा नाम नहीं।

किन्तु अपमान के प्रतिशोध के लिए मुकदमा लड़ने को किसी के पास पैसे नहीं थे। केवल लाठियों का भरोसा था; लेकिन इसका मौका नहीं था। दोनों ही सतर्क रहते थे, खैर

किसी प्रकार दोनों भाई अपने उसी घर में, एक म्यान में दो तलवारों की तरह रहने लगे; लेकिन एक म्यान में दो तलवार के रहने से तलवारों का उतना नुकसान नहीं होता, जितना कि बेचारे म्यान का। दोनों का क्रोध अपने घर ही पर उतरता था। मुसाफिरराम को जरूरत हुई, तो छोटे भाई के लगाए हुए कुम्हड़े और करेले की लताओं को तहस-नहस करके अपनी गौशाला बना ली। इधर जगन ने आवश्यक समझते ही बड़े भाई के भण्डार-घर को तोड़कर दरवाजे के साथ मिला दिया। घर तोड़ने की खबर सुनते ही मुसाफिरराम अपने भाई का सिर तोड़ने के लिए तैयार हो गये; किन्तु गाँव वालों ने बीच-बचाव करके झगड़ा शान्त कर दिया।

यह लड़ाई केवल पुरुषों तक ही थी, यह बात नहीं है। स्त्रियों में भी ऐसा घमासान युद्ध होता था जिसका ठिकाना नहीं।

हाथ चमकाकर, माथा मटकाकर, नथ हिलाकर ऐसी-ऐसी गालियों की बौछार की जाती थी, जिसका अमृतरस लूटने के लिए गाँव की सारी महिलाएँ एकत्र हो जाती थीं। मुनिया को आदमी का मांस खाना अभीष्ट नहीं था, फिर भी बड़ी तेजी से निनाद करके रधिया को धमकी देती थी—"तेरा भतार खा जाऊँगी!" रधिया भला अपनी चीज कैसे दे सकती थी? चट से कहती—"मेरा भतार क्यों खायगी; तेरा मुस्टंडा तो अभी तक जीता ही है, उसी को चबा!" इसी प्रकार दोनों देवरानी-जेठानी साहित्य के नवरसों से भिन्न गाली-रस की सृष्टि किया करती थीं।

यह लड़ाई-झगड़ा, गाली-गलौच एक-दो दिन रहता, तब तो ठीक; यहाँ तो महीने की लम्बी डग मारता हुआ साल चला

गया। घर और बाहर के सभी इस झगड़े से ऊब उठे। गाँव वालों ने कहा—भाई, तुम लोग आपस में क्यों इतना झगड़ा करते हो? अपनी-अपनी चीजें बराबर बाँट लो, बस झगड़ा खतम हो गया।

दोनों ने सकार लिया, बात ठीक है।

आखिर एक दिन गाँव वालों की पंचायत जमा हुई। सब कुछ देख-भालकर दुखहरण पाण्डे ने; तम्बाकू फाँकते हुए फैसला सुना दिया, और तब आँगन के बीच में दीवार खींच दी गई। घर की कोठरियों को गिन-गिनकर अलग किया गया। हल, बैल, खेत, बारी सब कुछ अलग-अलग हो गये। अब कोई भाई किसी से बोलना भी पसन्द नहीं करता था। एक दूसरे को देखते ही घृणा से मुँह फेर लेता था।

(२)

उपर्युक्त घटना को दो वर्ष बीत गये।

बिल्ली की तरह घर-घर घूमने वाली पद्मिनी काकी एक दिन मुसाफिर के घर जाकर बोली—"मुँह मीठा कराओ तो एक बात कहूँ!"

रधिया ने उत्सुकता से पूछा—"कौन बात है काकी, कहो न?"

"तुम्हारा भतीजा होने वाला है!"

रधिया का चेहरा घृणा से सिकुड़ गया। क्रोध से जल उठी। मुँह बिचकाकर बोली—"अय नौज, चूल्हे-भनसार में पड़े भतीजा, और देवी मइया के खप्पर में जाँय हमारे देवर-देवरानी। इनको बेटी-बेटा हो, इससे हमको क्या और नहीं हो, इससे क्या। अगर इन लोगों का बस चले, तो हम लोगों

को न जाने कब फाँसी लटका दें। ये लोग जैसे अपने हैं, उससे गैर ही कहीं अच्छे।"

इस प्रकार रधिया ने भली-भाँति साबित कर दिया कि इससे मुझे तनिक भी खुशी नहीं और पद्मिनी काकी का मुँह मीठा खाने लायक नहीं है।

यह बात बड़े विस्तार-पूर्वक मुनिया के निकट पहुँची। रधिया जलती है, यह सुनते ही उसे एक ईर्ष्यामय आनन्द हुआ। बोली—"अभी से उस कलमुँही के कपार में आग लग गई, तब तो लड़का होने से वह छाती फाड़कर मर जायगी!"

जगन घर में आया, तो उसे भी यही समाचार सुनना पड़ा। सुनकर उसे हर्ष नहीं हुआ। घृणा से जी छोटा हो गया। अपने भाई-भौजाई होकर भी ये लोग कितने नीच हैं! बोला—वे लोग तो जनम के जलन्त, उनकी बात को लेकर कहाँ तक क्या किया जाय?

उन दिनों पद्मिनी काकी प्रतिदिन एक नई सनसनीदार घटना की खबर लेकर मुनिया के निकट उपस्थित होती थी। आज रधिया देवी मैया के मन्दिर में धरना देने गई है, कि तुम्हारे पेट का लड़का नष्ट हो जाय। आज एक ओझा बुलाया गया है। बड़ा नामी ओझा है। उसके मन्तर का मारा हुआ पानी भी नहीं पीता। भगवान जाने क्या होगा। रोज इसी प्रकार नई घटनाओं का उल्लेख करके वह मुनिया से कुछ न कुछ जोग-टोटके के लिए झटक लेती थी।

किसी प्रकार इन मारन-मोहन-उच्चाटन वशीकरण से घोर युद्ध करता हुआ, कई महीनों का सुदीर्घ समय व्यतीत हो गया। आज मुनिया को लड़का होनेवाला है। उसकी वर्षों की

मुराद पूरी होगी। खाली गोद भर जायगी। जगन के इष्ट-मित्र भी चहक रहे थे—भाई! भर पेट खिलाना पड़ेगा, यहाँ पौने तीन सेर से छटाँक भर भी कम नहीं खाते। जगन प्रसन्नता-पुलकित होकर उत्तर देता—अरे इतना खिलाऊँगा कि खाते-खाते पेट फट जायगा। भीतर गाँव की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ बच्चे की सेवा सुश्रूषा कर रही थीं। अन्य महिलाएँ स्वयंसेविकाओं की तरह दूसरे-दूसरे कार्य में व्यस्त थीं, किन्तु न मुसाफिर का पता और न रधिया का। बाहर एक आदमी ने जगन से कहा—इस समय तुम्हें सब बैर भूलकर अपने भाई को बुलाना चाहिये था। जगन ने उत्तर दिया—"बुलाया भाई, पचासों दफे आदमी भेजा, खुद गया, जब आते ही नहीं तो क्या करूँ?"

भीतर की औरत आपस में कह रही थीं ऐसे समय में सब आदमी लाग-डाट भूल जाते हैं। भाई-भौजाई होकर भी वे लोग नहीं आए।

इस समय भी मुनिया कहने से न चूका—चूल्हे में जाँय वे लोग नहीं आए यही अच्छा हुआ।

उस समय रधिया अपने घर में चिन्ता से चूर बैठी थी। ईर्ष्या से उसका कलेजा जल रहा था। बार-बार भगवान् को दोष दे रही थी, उसे क्यों लड़का हो रहा है, मुझे क्यों नहीं हुआ?

मुसाफिर को तो ऐसा मालूम होता था, जैसे उसका सर्वस्व लुट गया। अगर कहीं लड़का हुआ, तो मेरे घर-द्वार का भी वही मालिक होगा। आज तक उसने कभी अपने निःसन्तान होने के विषय में नहीं सोचा था। किन्तु अब यही बात तीर की तरह उसके हृदय को बार-बार बेध रही थी। गाल पर

हाथ रखे वह इन्हीं ईर्ष्यामय विचारों में मग्न था। पड़ोस का शोर-गुल उसे ऐसा मालूम होता था, जैसे यह सब आयोजन उसी को चिढ़ाने के लिए किया गया है।

इसी समय मालूम हुआ, कि जगन के यहाँ लड़की पैदा हुई है।

मुसाफिर ने एक लम्बी साँस खींच कर कहा—"जाने दो, लड़का नहीं पैदा हुआ, यह अच्छा हुआ।"

यह उसके मन की वह प्रवृत्ति थी, जो निराशा के डाल पर भी सन्तोष के घोंसले बनाती है।

(३)

समय-पंछी उड़ता हुआ छः वर्षों का पथ और भी पार कर गया। जगन की लड़की मैना अपने द्वार पर बैठी हुई धूल के घरौंदे बनाती और बिगाड़ती नजर आती थी। उसे देखकर मुसाफिर को क्रोध नहीं आता था, एक प्रकार का ममत्व जाग्रत हो उठता था। जी में आता था कि वह धूल-धूसरित बालिका को गोद में उठाकर चूम ले। वह दूर से बैठकर उसकी बालक्रीड़ा को देखता था और फूला न समाता था। मैना को गोद में लेने की बलवती इच्छा को वह कैसे दबाता था, यह उसके सिवा और किसी को नहीं मालूम।

आसाढ़ रथ-द्वितीया के दिन, उसी के गाँव के समीप करौंदी में मेला लगता था। उस मेले में कोई खास बात नहीं थी। जगन्नाथ स्वामी के मन्दिर में खूब घड़ी-घंटे बजाकर उनकी पूजा होती था। सन्ध्या के समय मनुष्यों के रथ पर लदकर, देवताओं का एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर तक पहुँचा दिया जाता था। आस-पास के सभी गाँव वाले वहाँ एकत्र होते थे,

काफी भीड़ जुट जाती थी। मुसाफिर भी वहाँ गया था। वहाँ खिलौने की दूकान देखकर ठिठक गया। इच्छा हुई कि मैना के लिए कुछ खिलौने लेता चलूँ। फिर सोचा—"मगर इसके लिए कहीं जगन या उसकी बहू कुछ कह दे तब ?" उसने इस इच्छा को बल-पूर्वक त्याग दिया और आगे बढ़ा। आगे भी खिलौने की दूकान थी। एक-से एक अच्छे खिलौने भली-भाँति सजाकर रखे हुए थे। मुसाफिर रुक गया और दूकान की ओर देखने लगा। खिलौने सभी सुन्दर थे। जिस पर दृष्टि जाती थी, उससे आँखों का हटाना कठिन था। यदि इसमें से एक भी खिलौना मैना को मिले, तो वह कितनी खुश होगी। मुसाफिर की कल्पना की आँखों के आगे मैना उसके लिए खिलौनों को लेकर छाती से लगाई हुई दिखलाई पड़ने लगी। वह इसी आत्मविस्मृत दशा में दूकान के सामने जाकर खड़ा हो गया। एक खिलौना उठाकर पूछा—"इसका कितना दाम है ?"

"छः आने !"

मुसाफिर को मानो होश हुआ। यह खिलौना मैं किसके लिए खरीद रहा हूँ ! उसी के लिए जो मेरे बैरी की लड़की है। मगर अब क्या करता; दाम पूछ चुका था, अगर वहाँ से यों ही चल देता तो बड़ी हेठी होती। बस टाल देने के लिए बोला—"तीन आने में देते हो तो दे दो।"

"अगर लेना ही है तो चार आने से कौड़ी कम न लूँगा।"

अब तो सिर्फ चार पैसों पर बात अटक गई। अगर ले ही लूँ तो क्या होगा। मेरा दुश्मन जगन है कि उसकी लड़की ? बेचारी बच्ची का क्या कसूर ? जैसे वह जगन की लड़की है वैसे ही हमारी लड़की है। बेचारी को मैंने कभी कुछ नहीं दिया।

लोग अपने भतीजे-भतीजों को लाख-दो-लाख दे देते हैं, अगर मैंने एक चार आने का खिलौना ही दे दिया तो क्या दिया ! मुसाफिर जब खिलौनों को खरीद कर चला, तो उसके हृदय में जितना उल्लास था उतना ही झगड़े की आशंका भी थी।

सांझ के समय घर पहुँचा। मैना उस समय अपने पिता से पाई हुई सीटी बजा बजाकर खुश हो रही थी। इस समय मुसाफिर जाकर उसके सामने खड़ा हो गया। खिलौना हाथ में रखकर कहा—"देख बेटी, यह खिलौना तेरे लिए लाया हूँ, पसन्द है ?"

मैना खुशी से नाच उठी। बोली—"हाँ चाचा, खूब पसन्द है; अबकी मेला में जाओगे तो मेरे लिए एक हाथी, एक खरगोश और एक कछुआ लेते आओगे ?"

"अच्छा लेता आऊँगा"—कह कर मुसाफिर ने उसे गोद में उठाकर चूम लिया।

मैना बोली—"तुम बड़े अच्छे आदमी हो चाचा, तुम मेरे लिए मेले से खिलौना ला देते हो, गोद में लेकर दुलार करते हो।"

मुसाफिर ने स्नेह से पूछा—"और तेरा बाप दुलार नहीं करता ?"

मैना सिर हिलाती हुई बोली—"नहीं वह दुलार नहीं करता, वह तो मुझे गोद में भी नहीं लेता।"

(४)

एक दिन मुसाफिर गोद में मैना को लिए हुए घर के भीतर गया, तो रधिया बोली, "तुम्हारे रंग-ढंग मुझे अच्छे नहीं लगते।"

मुसाफिर ने सहज उत्सुकता से पूछा—"क्यों क्या हुआ ?"

"पराई बेटी के पीछे काम-धन्धा छोड़कर दिन भर पागल बने फिरते हो। अगर अपनी बेटी होती तो क्या करते! कल खेत पर भी नहीं गये, सारा दिन बाँस की गाड़ी बनाने में बिता दिया।"

मुसाफिर ने हँसकर कहा—"पराई बेटी कैसे हुई ? क्यों मैना तू दूसरे की बेटी है ?"

मैना ने सिर हिलाकर कहा—"नहीं।"

"तब किसकी बेटी है ?"

मैना उसके गले में दोनों बाहें डालकर बोली, "तुम्हारी !"

मुसाफिर मुस्कराता हुआ गर्व से अपनी पत्नी की ओर देखकर बोला—"देखती हो ?"

रधिया ने कहा—"सब देखती हूँ, लेकिन अगर कहीं कुछ हो गया, तो यही समझ लो कि तुम्हारे सिर का एक बाल भी नहीं बचेगा। जो कुछ असर-कसर बाकी है, वह भी पूरी हो जायगी।"

मुसाफिर ने मैना को चूमकर कहा—"मेरी बेटी को क्यों कुछ होगा, जो कुछ होना होगा, सो इसके दुश्मन को होगा। क्यों बेटी ?"

मैना ने सिर हिलाकर अपनी सम्मति जता दी।

रधिया ने मुँह फुलाकर कहा—"एक दफे कपार फुटवा ही चुके, अबकी मालूम होता है, मूँछे उखड़वाओगे।"

मुसाफिर के दिल में कुछ चोट लगी। उसने सिर उठाकर कहा—"तुम तो मैना को फूटी आँखों भी नहीं देख सकतीं। यह मेरी गोद में नहीं आवे, तब तुम्हारा कलेजा ठंडा रहेगा।"

रधिया तीव्र स्वर में बोली—"कौन कहता है कि मैना मुझे फूटी आँखों नहीं सुहाती ? बोलते कुछ लाज भी लगती है कि नहीं ! लड़के-बच्चे भी किसी के दुश्मन होते हैं ? मैना को देखती हूँ, तो गोद में लेने के लिए तरस कर रह जाती हूँ, मगर करूँ तो क्या, इसके माँ-बाप ऐसे हैं, जिनसे दुश्मन भी भला। छोड़ देती हूँ, कौन जाने मैना को दुलार करने से हमारी मालकिनजी राँड़ निपूती करने लगें।"

इसी समय मैना अपने चाचा की गर्दन झकझोर कर बोली—"चाचा चाचा, चलो मुझे गाड़ी पर चढ़ा कर टहला दो।"

"चल !"—कहता हुआ मुसाफिर उसे लिये हुए घर से बाहर चला गया।

उस दिन मैना गाड़ी पर चढ़कर खूब घूमी; लेकिन जब उसकी छोटी-सी गाड़ी समस्त गाँव की परिक्रमा करके लौटी, तो उसे कुछ ज्वर-सा हो आया था। मुसाफिर ने देखा कि उसका शरीर कुछ गर्म है। बोला—"घर चली जाओ बेटी, शायद तुम्हें बुखार आयेगा।"

मैना ज़िद करने लगी—"नहीं चाचा, थोड़ा और घुमा दो। थोड़ा-सा। फिर घर चली जाऊँगी।"

"नहीं नहीं, अब घर जाओ।"

मैना मलीन मन गाड़ी से उतरकर घर चली गई। उस दिन वह बहुत उदास हो गई थी। चाचा यदि थोड़ा और घुमा देते तो क्या होता ?

(५)

दूसरे दिन मुसाफिर दिनभर मैना को नहीं देख सका। मालूम हुआ कि उसे ज्वर आया है। मुसाफिर दिनभर बहुत ही उदास रहा। खेत पर भी नहीं जा सका। बैल भूखे थे, उन्हें सानी देने की भी याद नहीं रही। मालूम होता था, जैसे वह निर्वासित कर दिया गया है। वह जहाँ बैठा था, दिन भर वहीं बैठा रह गया। रात हुई तो रधिया आकर बोली—"आज खाओगे नहीं क्या ?"

"ना, आज भूख नहीं है।"

तुम तो मुफ्त में अपनी जान गवाँ रहे हो। जिन लोगों के लिए प्राण हत रहे हो, उन्हें तो तुम्हारी परवाह ही नहीं है। यह किसी से नहीं हुआ कि तनिक बुलाकर दिखला देते। हाय री बच्ची, कल ही भली-चंगी थी, आज न जाने कैसे क्या हो गया! मेरा तो जी चाहता है कि जाकर एक बार देख आती।

मुसाफिर प्रसन्न होकर बोला—"चली जाओ न; देखती आना।

रधिया ने कहा—"जाती तो; लेकिन महारानी जी से डर लगता है कि कहीं डाइन कह कर बदनाम न कर दें। और तुम्हारा सपूत भाई भी कम नहीं है। ना, मैं नहीं जाऊँगी; तुम्हीं जाओ।"

"तुम्हारे जाने से लोग बुरा मानेंगे, तो क्या मेरे जाने से भला मानेंगे ?"

"तो जाने दो; मगर चलो खा लो। ऐसे कब तक रहोगे?"

"जब तक मन करेगा।"

"भगवान् लोगों को दुख देते हैं, तो क्या सभी खाना छोड़ देते हैं? दुनिया का काम तो सभी को करना ही पड़ता है।"

"खाऊँगा तो जरूर; लेकिन अभी भूख नहीं है।"

रधिया निराश होकर चली गई। मुसाफिर वहाँ बैठा-बैठा क्या सोच रहा था, यह वही जाने; लेकिन जब रात भींग गई, दस से ऊपर हो गये और रात्रि के सन्नाटे में कुत्तों का भूँकना जारी हो गया, तब मुसाफिर जगन के द्वार पर जाकर खड़ा हो गया, दीवार से कान लगा कर, बहुत देर तक मैना की बोली सुनने की चेष्टा की; किन्तु निष्फल ही रहा। अन्त में निराश होकर घर लौट आया और चुप-चाप सो गया।

मैना तीन-चार दिनों तक तो बुखार में डूबी रही, पाँचवें दिन सन्निपात हो गया। बचने की आशा जाती रही। मुसाफिर यह सब सुनता था और मन-ही-मन हाय करके रह जाता था।

आखिर एक दिन मुनिया के क्रन्दन से जगन का घर गूँज उठा। मुसाफिर के हाथ-पाँव फूल गये। वह पागल की तरह दौड़ा हुआ जगन के आँगन में पहुँच गया। घबराया हुआ बोला—"जगन, जगन, क्या हुआ?"

जगन रोता हुआ घर से निकला—"भइया, हम लुट गये, भइया, मैना! .. "

मुसाफिर भी कातर भाव से हाहाकार करके रो उठा, हाय मेरी बेटी!......

जब लोग मैना की लाश को उठाकर ले चले, उस समय मुनिया भी सिर बाल खोले पगली की तरह रोती हुई जा रही थी। "हायरे! मेरी भली-सी बच्ची को लेकर तुम लोग कहाँ जा

रहे हो। लाओ उसे मुझे दे दो, वह दूध पीकर चुप-चाप सो जायगी। हायरे, मेरी बच्ची ! सुनो......सुनो तो......"

इसी समय रधिया अपने घर से दौड़ती हुई निकली और मुनिया को पकड़ लिया। उसे अपनी छाती लगाकर बोली—"न रोओ बहन न रोओ ! भगवान ने हम लोगों को दुःख दिया है, तो सहना ही पड़ेगा।"

उस समय तक शव ले जाने वाले आँखों की ओट हो चुके थे।

---

(६)

शरणागत

[वृन्दावन लाल वर्मा]

रज्जब अपना रोजगार करके ललितपुर लौट रहा था। साथ में स्त्री थी, और गाँठ में दो-तीन सौ की बड़ी रकम। मार्ग बीहड़ था, और सुनसान। ललितपुर काफी दूर था, बसेरा कहीं न कहीं लेना ही था, इसलिए उसने मड़पुरा नामक गाँव में जाने का निश्चय किया। उसकी पत्नी को बुखार हो आया था, रकम पास में थी, और बैलगाड़ी किराये पर करने में खर्च ज्यादा पड़ता, इसलिए रज्जब ने उस रात आराम कर लेना ही ठीक समझा।

परन्तु ठहरता कहाँ! जात छिपाने से काम नहीं चल सकता था। उसकी पत्नी नाक और कानों में चाँदी की बालियाँ डाले थी, और पैजामा पहने थी। इसके सिवाय गाँव के बहुत से लोग उसको पहचानते भी थे। वह उस गाँव के बहुत से कर्मण्य और अकर्मण्य ढोर खरीदकर ले जा चुका था।

अपने व्यवहारियों से उसने रात-भर के बसेरे के लायक स्थान की याचना की, किन्तु किसी ने भी मंजूर न किया!

उन लोगों ने अपने ढोर रज्जब को अलग अलग और छिपे-लुके बेंचे थे। ठहराने में तुरन्त ही तरह तरह की खबरें फैलतीं इसलिए सब ने इनकार कर दिया।

गाँव में एक गरीब ठाकुर रहता था। थोड़ी-सी जमीन थी, जिसको किसान जोतते थे। निज का हल बैल कुछ भी न था। लेकिन अपने किसानों से दो-तीन साल का पेशगी लगान वसूल कर लेने में ठाकुर को किसी विशेष बाधा का सामना नहीं करना पड़ता था। छोटा-सा मकान था, परन्तु गाँव वाले उसको गढ़ी के आदर-व्यंजक शब्द से पुकारा करते थे और ठाकुर को डर के मारे 'राजा' शब्द से सम्बोधित करते थे।

शामत का मारा रज्जब इसी ठाकुर के दरवाजे पर अपनी ज्वरग्रस्त पत्नी को लेकर पहुँचा।

ठाकुर पौर में बैठा हुक्का पी रहा था। रज्जब ने बाहर से ही सलाम करके कहा—"दाऊ जी, एक बिनती है।"

ठाकुर ने बिना एक रत्ती-भर इधर-उधर हिले डुले पूँछा—"क्या?"

रज्जब बोला—"मैं दूर से आ रहा हूँ। बहुत थका हुआ हूँ। मेरी औरत को जोर से बुखार आ रहा है। जाड़े में बाहर रहने से न जाने इसकी क्या हालत हो जायगी, इसलिए रात-भर के लिए कहीं दो हाथ जगह दे दी जाय।"

"कौन लोग हो?" ठाकुर ने प्रश्न किया।

"हूँ तो कसाई।" रज्जब ने सीधा उत्तर दिया। चेहरे पर उसके बहुत गिड़गिड़ाहट थी।

ठाकुर की बड़ी-बड़ी आँखों में कठोरता छा गई। बोला—

"जानता है, यह किसका घर है ? यहाँ तक आने की हिम्मत कैसे की तूने ?"

रज्जब ने आशा-भरे स्वर में कहा—"यह राजा का घर है। इसीलिए शरण में आया हूँ।"

तुरन्त ठाकुर की आँखों की कठोरता गायब हो गई। जरा नरम स्वर में बोला—"किसी ने तुमको बसेरा नहीं दिया ?"

"नहीं महाराज !" रज्जब ने उत्तर दिया—"बहुत कोशिश की, परन्तु मेरे खोटे पेशे के कारण कोई सीधा नहीं हुआ।" और वह दरवाजे के बाहर ही, एक कोने से चिपट कर बैठ गया, पीछे उसकी पत्नी कराहती काँपती हुई गठरी-सी बनकर सिमट गई।

ठाकुर ने कहा "तुम अपनी चिलम लिये हो ?"

"हाँ, सरकार !" रज्जब ने उत्तर दिया।

ठाकुर बोला—"तब भीतर आ जाओ, और तमाखू अपनी चिलम से पी लो। अपनी औरत को भी भीतर कर लो। हमारी पौर के एक कोने में पड़े रहना।"

जब वे दोनों भीतर आ गये, ठाकुर ने पूछा—"तुम कब यहाँ से उठ कर जाओगे।" जवाब मिला—"अँधेरे में ही महाराज ! खाने के लिए रोटियाँ बाँधे हूँ, इसलिए पकाने की जरूरत न पड़ेगी !"

"तुम्हारा नाम !

"रज्जब।"

२

थोड़ी देर बाद ठाकुर ने रज्जब से पूछा—"कहाँ से आ रहे हो ?" रज्जब ने स्थान का नाम बतलाया।

"वहाँ किस लिए गये थे ?"

"अपने रोजगार के लिए !"

"काम तो तुम्हारा बहुत बुरा है।"

"क्या करूँ पेट के लिये करना पड़ता है। परमात्मा ने जिसके लिए जो रोजगार मुकर्रर किया है, वही उसको करना पड़ता है।"

"क्या नफा हुआ ?" प्रश्न करने में ठाकुर को जरा संकोच हुआ, और प्रश्न का उत्तर देने में रज्जब को उससे बढ़कर !

रज्जब ने जवाब दिया—"महाराज, पेट के लायक कुछ मिल गया है, यों ही।" ठाकुर ने इस पर कोई जिद नहीं की।

रज्जब एक क्षण बाद बोला—"बड़े भोर उठ कर चला जाऊँगा। तब तक घर के लोगों की तबियत भी अच्छी हो जायगी।"

इसके बाद दिन-भर के थके हुए पति-पत्नी सो गये। काफी रात गये कुछ लोगों ने एक बँधे इशारे से ठाकुर को बाहर बुलाया। एक फटी रजाई ओढ़े ठाकुर बाहर निकल आया।

आगन्तुकों में से एक ने धीरे से कहा—"दाऊजी ! आज तो खाली हाथ लौटे हैं। कल संध्या का सगुन बैठा है।"

ठाकुर ने कहा—"आज जरूरत थी। खैर, कल देखा जायगा। क्या कोई उपाय किया था ?"

"हाँ"—आगन्तुक बोला—"एक कसाई रुपये की मोट बाँधे इसी ओर आया है। परन्तु हम लोग जरा देर में पहुँचे। वह खिसक गया। कल देखेंगे। जरा जल्दी।"

ठाकुर ने घृणा-सूचक स्वर में कहा—"कसाई का पैसा न छूएँगे।"

"क्यों ?"

"बुरी कमाई है।"

"उसके रुपयों पर कसाई थोड़े ही लिखा है।"

"रुपया तो दूसरों का ही है। कसाई के हाथ में आने से रुपया कसाई नहीं हुआ।"

"मेरा मन नहीं मानता, वह अशुद्ध है।"

"हम अपनी तलवार से उसको शुद्ध कर लेंगे।"

ज्यादा बहस नहीं हुई। ठाकुर ने कुछ सोचकर अपने साथियों को बाहर का बाहर ही टाल दिया।

भीतर देखा, कसाई सो रहा था, और उसकी पत्नी भी।

ठाकुर भी सो गया।

३

सबेरा हो गया, परन्तु रज्जब न जा सका। उसकी पत्नी का बुखार तो हल्का हो गया था, परन्तु शरीर-भर में पीड़ा थी, और वह एक कदम भी नहीं चल सकती थी।

ठाकुर उसे वहीं ठहरा हुआ देख कर कुपित हो गया। रज्जब से बोला—"मैंने खूब मेहमान इकट्ठे किये हैं। गाँव भर थोड़ी देर में तुम लोगों को मेरी पौर में टिका हुआ देखकर तरह तरह की बकवास करेगा। तुम बाहर जाओ और इसी समय।"

रज्जब ने बहुत विनती की, किन्तु ठाकुर न माना। यद्यपि गाँव उसके दबदबे को मानता था, परन्तु अव्यक्त लोक-मत का दबदबा उसके मन पर भी था। इसलिये रज्जब गाँव के बाहर सपत्नीक एक पेड़ के नीचे जा बैठा, और हिन्दू-मात्र को मन ही मन कोसने लगा।

उसे आशा थी कि पहर आध पहर में उसकी पत्नी की तबीयत इतनी स्वस्थ हो जायगी कि वह पैदल यात्रा कर सकेगी। परन्तु ऐसा न हुआ, तब उसने एक गाड़ी किराये पर कर लेने का निर्णय किया।

मुश्किल से एक चमार काफी किराया लेकर ललितपुर गाड़ी ले जाने के लिये राजी हुआ। इतने में दोपहर हो गई। उसकी पत्नी को जोर का बुखार आया और वह जाड़े के मारे थर-थर काँप रही थी, इतनी कि रज्जब की हिम्मत उसी समय ले जाने की न पड़ी। गाड़ी में अधिक हवा लगने के भय से रज्जब ने उस समय तक के लिये यात्रा को स्थगित कर दिया, जब तक कि उस बेचारी की कम से कम कँपकँपी बन्द न हो जाय।

घंटे डेढ़ घंटे बाद उसकी कँपकँपी बन्द हो गई, परन्तु ज्वर बहुत तेज हो गया। रज्जब ने अपनी पत्नी को गाड़ी में डाल दिया, और गाड़ीवान से जल्दी चलने को कहा।

गाड़ीवान बोला—"दिन भर तो यहीं लगा दिया। अब जल्दी चलने को कहते हो।"

रज्जब ने मिठास के स्वर में उससे फिर जल्दी करने के लिए कहा।

वह बोला—"इतने किराये में काम नहीं चल सकेगा। अपना रुपया वापस लो। मैं घर जाता हूँ।"

रज्जब ने दाँत पीसे। कुछ क्षण चुप रहा। सचेत होकर कहने लगा—"भाई, आफत सब के ऊपर आती है। मनुष्य मनुष्य को सहारा देता है, जानवर तो देते नहीं। तुम्हारे भी बाल-बच्चे हैं। कुछ दया के साथ काम लो।"

कसाई को दया पर व्याख्यान देते सुनकर गाड़ीवान को हँसी आ गई।

उसको टस से मस न होता देखकर रज्जब ने और पैसे दिए तब उसने गाड़ी हाँकी।

४

पाँच-छः मील चलने के बाद संध्या हो गई। गाँव कोई पास में न था। रज्जब की गाड़ी धीरे धीरे चली जा रही थी। उसकी पत्नी बुखार में बेहोश-सी थी। रज्जब ने अपनी कमर टटोली। रकम सुरक्षित बँधी पड़ी थी।

रज्जब को स्मरण हो आया कि पत्नी के बुखार के कारण अंटी का कुछ बोझ कम कर देना पड़ा है—और स्मरण हो आया गाड़ीवान का वह हठ जिसके कारण ही उसको कुछ पैसे और दे देने पड़े थे उसे गाड़ीवान पर क्रोध था, परन्तु उसको प्रकट करने की उस समय उसके मन में इच्छा न थी।

बातचीत करके रास्ता काटने की कामना से उसने वार्तालाप आरम्भ किया—

"गाँव तो यहाँ से दूर मिलेगा।

"बहुत दूर, वहीं ठहरेंगे।"

"किसके यहाँ?"

"किसी के यहाँ भी नहीं। पेड़ के नीचे। कल सबेरे ललितपुर चलेंगे।"

"कल्ल का फिर पैसा माग उठना।"

"कैसे माँग उठूँगा? किराया ले चुका हूँ। अब फिर कैसे माँगूँगा?"

"जैसे आज गाँव में हठ कर के माँगा था। बेटा! ललितपुर होता तो बता देता।"

"क्या बतला देते? क्या सेंतमेंत गाड़ी में बैठना चाहते थे?"

"क्यों बे, क्या रुपया देकर भी सेंतमेंत का बैठना कहाता है? जानता है मेरा नाम रज्जब है। अगर बीच में गड़बड़ करेगा, तो साले को यहाँ छुरी से काट कर कहीं फेंक दूँगा, और गाड़ी लेकर ललितपुर चल दूँगा।"

रज्जब क्रोध को प्रकट नहीं करना चाहता था, परन्तु शायद अकारण ही वह भली-भाँति प्रकट हो गया।

गाड़ीवान ने इधर-उधर देखा। अँधेरा हो गया था। चारों ओर सुनसान था। आस-पास झाड़ी खड़ी थी, ऐसा जान पड़ता था, कहीं से कोई अब निकला और अब निकला। रज्जब की बात सुन कर उसकी हड्डी-हड्डी काँप गई। ऐसा जान पड़ा, मानो पसलियों को उसकी ठंडी छुरी छू रही हो।

गाड़ीवान चुपचाप बैलों को हाँकने लगा, उसने सोचा—गाँव के आते ही गाड़ी छोड़ कर नीचे खड़ा हो जाऊँगा, और हल्ला गुल्ला करके गाँववालों की मदद से अपना पीछा रज्जब से छुड़ाऊँगा! रुपये-पैसे भले ही वापस कर दूँगा, परन्तु और आगे न जाऊँगा कहीं सचमुच मार्ग में मार डाले!

५

गाड़ी थोड़ी दूर और चली होगी कि बैल ठिठक कर खड़े हो गये। रज्जब सामने देख रहा था, इसलिए जरा कड़क कर गाड़ीवान से बोला—"क्यों बे बदमाश! सो गया क्या?"

अधिक कड़क के साथ सामने रास्ते पर खड़ी हुई एक टुकड़ी

में से किसी कठोर कंठ से निकला—"खबरदार, जो आगे बढ़ा।"

रज्जब ने सामने देखा कि चार-पाँच आदमी बड़े बड़े लट्ठ बाँधकर न जाने कहाँ से आ गये हैं। उनमें से तुरन्त ही एक ने बैलों की जुआरों पर एक लट्ठ पटका और दो दाएँ-बाएँ आकर रज्जब पर आक्रमण करने को तैयार हो गये।

गाड़ीवान गाड़ी छोड़ कर नीचे जा खड़ा हुआ। बोला—"मालिक! मैं तो गाड़ीवान हूँ। मुझसे कोई सरोकार नहीं।"

"यह कौन है?" एक ने गरज कर पूछा—

गाड़ीवान की घिग्घी बँध गई। कोई उत्तर न दे सका।

रज्जब ने कमर की गाँठ को एक हाथ से सँभालते हुए बहुत ही विनम्र स्वर में कहा—"मैं बहुत गरीब आदमी हूँ। मेरे पास कुछ नहीं है। मेरी औरत गाड़ी में बीमार पड़ी है। मुझे जाने दीजिये।"

उन लोगों में से एक ने रज्जब के सिर पर लाठी उबारी।

गाड़ीवान खिसकना चाहता था कि दूसरे ने उसको पकड़ लिया।

अब उसका मुँह खुला। बोला—"महाराज, मुझको छोड़ दो। मैं तो किराये पर गाड़ी लिए जा रहा हूँ। गाँठ में खाने के लिए तीन चार आने पैसे।"

"और यह कौन है? बतला।" उन लोगों में से एक ने पूछा—

गाड़ीवान ने तुरन्त उत्तर दिया—"ललितपुर का एक कसाई।"

रज्जब के सिर जो लाठी उबारी गई थी, वह वहीं रह गई, लाठी वाले के मुँह से निकला—"तुम कसाई हो ? सच बताओ।"

"हाँ, महाराज !" रज्जब ने सहसा उत्तर दिया—"मैं बहुत गरीब हूँ; हाथ जोड़ता हूँ, मुझको मत सताओ। मेरी औरत बहुत बीमार है।"

औरत जोर से कराही।

लाठी वाले उस आदमी ने अपने एक साथी से कान में कहा—"इसका नाम रज्जब है। छोड़ो। चलें यहाँ से।"

उसने न माना। बोला—"इसका खोपड़ा चकनाचूर करो दाऊजी। यदि वैसे न माने तो। असाई-कसाई हम कुछ नहीं मानते।"

"छोड़ना ही पड़ेगा"; उसने कहा—"इसपर हाथ न पसारेंगे और न इसका पैसा छुएँगे।

दूसरा बोला—"क्या कसाई होने के डर से ? दाऊजी ! आज तुम्हारी बुद्धि पर पत्थर पड़ गये हैं; मैं देखता हूँ।" और, वह तुरन्त लाठी लेकर गाड़ी पर चढ़ गया। लाठी का एक सिरा रज्जब की छाती में अड़ाकर उसने तुरन्त रुपया पैसा निकाल कर देने का हुक्म दिया। नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने जरा तीव्र स्वर में कहा—"नीचे उतर आओ, उससे मत बोलो। उसकी औरत बीमार है।"

"हो, मेरी बला से," गाड़ी में चढ़े हुए लठैत ने उत्तर दिया—"मैं कसाइयों की दवा हूँ !" और उसने रज्जब को फिर धमकी दी।

नीचे खड़े हुए उस व्यक्ति ने कहा—"खबरदार, जो उसे छुआ। नीचे उतरो, नहीं तो तुम्हारा सिर चूर किये देता हूँ। वह मेरी शरण आया था।"

लठैत झख-सी मारकर नीचे उतर आया।

नीचे वाले व्यक्ति ने कहा—"सब लोग अपने अपने घर जाओ। राहगीरों को तंग मत करो।" फिर गाड़ीवान से बोला—"जा रे, हाँक ले जा गाड़ी। ठिकाने तक पहुँचा आना, तब लौटना। नहीं तो अपनी खैर मत समझियो। और तुम दोनों में से किसी ने भी कभी इस बात की चर्चा की तो भूसी की आग में जलाकर खाक कर दूँगा।"

गाड़ीवान गाड़ी ले कर बढ़ गया। उन लोगों में से जिस आदमी ने गाड़ी पर चढ़ कर रज्जब के सिर पर लाठी तानी थी उसने क्षुब्ध स्वर में कहा—

"दाऊजी! आगे से कभी आपके साथ न आऊँगा।"

दाऊजी ने कहा—"न आना। मैं अकेले ही बहुत कर गुजरता हूँ। परन्तु बुंदेला शरणागत के साथ घात नहीं करता, इस बात को गाँठ बाँध लेना।"

———

(१०)

दलसिंगार

[राहुल सांकृत्यायन]

दोनों की एक ही उम्र थी, लेकिन रिश्ते में एक था नाना और दूसरा था नाती। दोनों में बड़ा प्रेम था। ऐसा प्रेम कि दोनों के घर वालों का जब आपस में बोलना-चालना बन्द रहता था, तब भी उसका इन दोनों के सम्बन्ध पर कोई असर न होता था। यद्यपि दोनों अभी छः ही सात वर्ष की उम्र के थे, लेकिन तो भी दलसिंगार नाना से, उसका नाती कद में कुछ लम्बा मालूम होता था। दोनों के घर गाँव के दो टोलों में थे, और जिस स्कूल में वे पढ़ने जाते थे, वह गाँव से एक मील पर था। स्कूल के लिए रवाना होने से पहले एक दूसरे को लिवाने के लिए घर पर जाना पड़ता था। उस उम्र में भी वे समझने की शक्ति रखते थे कि दोनों घरों में मनमुटाव होने पर कैसे तिर्छी आँखों से घर वाले उनकी ओर देखते हैं लेकिन एक दूसरे की मुहब्बत के कारण अनदेखी कर देते हैं। सवेरे का नाश्ता कर छः ही बजे वे निकल जाते थे। दोपहर को दोनों साथ खाने को घर लौटते थे और दोपहर बाद फिर स्कूल चले जाते थे। दिन भर में चार मील का आना-जाना उनके लिए कोई बात न थी।

पढ़ने-लिखने में दोनों ही उतने मिहनती न थे और उतनी मिहनत की आवश्यकता भी न थी, क्योंकि उनकी स्मृति इतनी अच्छी थी कि स्कूल का जो दो-एक पाठ्य पुस्तकें थीं, वे एक बार फिर से देखने से ही याद हो जाती थीं। सभी लड़कों की तरह उनको भी खेलने का बहुत ही शौक था; लेकिन घर वालों के सामने होते ही उनकी आजादी छिन जाती थी। घर के लोग समझते थे कि खेलने से लड़के खराब हो जाते हैं और कूदफाँद में हाथ-पैर टूटने का डर रहता है। गाँव में पहुँचने के बाद लड़कों के खेल में शामिल होना उनके लिए मुश्किल जरूर कर दिया गया था; लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वे ऐसे खेलों में कभी शामिल ही नहीं हुए। एक बार दलसिंगार और उसका साथी दूसरे लड़कों के साथ कबड्डी खेल रहे थे। दल बाँधते वक्त दोनों एक दूसरे के विरोधी दल में चुन लिये गये। दलसिंगार कबड्डी पढ़ते आया। उसके साथी ने उसे पकड़ना चाहा। धरपकड़ में साथी के हाथ का चाँदी का कड़ा दलसिंगार के एक दाँत में इतने जोर से लगा कि उसका एक कोना टूटकर निकल गया। खैरियत हुई कि वह होठ और दूसरी किसी जगह नहीं लगा। दलसिंगार के दूध के दाँत टूट चुके थे; इसलिए उसे अपने दोस्त की ओर से यह एक चिरस्थायी चिह्न मिला।

स्कूल प्रायमरी का था। वहाँ घड़ी भी न थी और न समय जानने का कोई साधन ही था। कभी-कभी छुट्टी कुछ सबेरे हो जाती थी और इसके लिए दोनों मित्रों को अच्छा रास्ता एक सहपाठी ने बतलाया था। उसका कहना था कि भौंह का एक बाल नोच कर कागज में लपेटकर यदि धूप में डाल दिया जाय तो दिन जल्दी कट जाता है। दोनों मित्रों के रोज दो चार भौंह

के बाल जरूर इस काम के लिए खर्च होते थे; और इसका फल भी उनकी इच्छा के अनुकूल होता था। अपने घर तो वे नित्य की तरह सूर्यास्त ही को पहुँचते थे; लेकिन बीच के समय को रास्ते में, गिल्ली-डंडा या किसी दूसरे खेल में बिता देते थे।

बचपन के दिन मधुर होते हैं और साथ ही बहुत लम्बे भी होते हैं।

* * *

दोनों मित्रों को स्कूल जाते दो वर्ष हो गये। आषाढ़ का दिन था, लेकिन वर्षा अभी शुरू नहीं हुई थी। स्कूल के अध्यापक को फूलों का बहुत शौक था। उस दिन सबेरे लड़कों के बैठने के टाट पीटकर साफ किये गये। फर्श को अच्छी तरह झाड़ा गया। स्कूल का हाता साफ किया गया और अन्त में गेंदे के छोटे-छोटे पौधों को पाँती से स्कूल के हाते में लगाया गया। सारा दिन लड़कों का इन्हीं कामों में खर्च हुआ। शाम को आसमान में बादल दिखाई देने लगे। छुट्टी रोज से कुछ पहले हुई, लेकिन दलसिंगार और उसके साथी को इस सबेरे की छुट्टी से प्रसन्नता न हुई। दोपहर बाद दलसिंगार ने दो-तीन बार कै की। उसकी आँखें लाल थीं। साथी बदन छूकर साफ देख रहा था कि वह जल रहा है। दलसिंगार दोपहर बाद से स्कूल के काम में भाग नहीं ले सका। वह एक जगह बैठा रहा। घर चलते वक्त साथी ने देखा कि दलसिंगार को चलने में तकलीफ हो रही है। दस-बीस बार थोड़ी-थोड़ी दूर पर बैठते वह स्कूल की ओझल में चले आये; लेकिन अब दलसिंगार के लिये एक कदम भी आगे चलना मुश्किल था। उस वक्त रास्ते में भी कोई चलने वाला आदमी नहीं था। मिलने पर भी वह उससे सहायता की प्रार्थना

करते इसमें सन्देह था। साथी ने दलसिंगार को अपनी पीठ पर चढ़ने के लिये कहा; लेकिन वह उसे लेकर दस कदम भी नहीं चल सकता था। उसने पीठ चढ़ने का खेल शायद कभी खेल न पाया था और उसे बोझ ढोने का अभ्यास भी न था। थोड़ी दूर पर दोनों मित्र बैठ जाते। दलसिंगार कहता कि उसका पैर फट रहा है। उसका साथी बैठकर पैरों को दबाता। दलसिंगार की लाल आँखों को देखकर साथी के मन में भय का संचार होता था। पैर की पीड़ा से दलसिंगार की आँखें आँसू से भर जाती थीं। इस पर साथी भी अपने आँसुओं को न रोक सकता था। दो-चार बार के और प्रयत्न करने पर जब दलसिंगार की पीड़ा अधिक बढ़ जाती और वह रोने लगता तो साथी भी उसमें शामिल हो जाता। फिर दस-पन्द्रह मिनट दोनों रोकर बिताते। आसमान में बादल था। सूरज के न दिखाई देने से उन्हें यह न मालूम था कि दिन कितना है। रात पड़ने के डर से एक बार फिर दोनों हिम्मत करते। साथी दलसिंगार को फिर अपनी पीठ पर चढ़ाता और आठ-दस कदम पर पहुँचकर गिर पड़ता था। फिर पन्द्रह मिनट तक सान्त्वना के दो-चार शब्द, पैरों का दाबना, और रोना शुरू होता था। थोड़ी देर में जब रात की ओर ख्याल जाता, तो फिर चलने के लिये वैसा ही हिम्मत करते। स्कूल से उनका घर एक मील रहा होगा; लेकिन मालूम नहीं कितनी सौ बार उन्होंने इस रास्ते को तय करने के लिये दिल कड़ा किया। घड़ियाँ नहीं, मालूम देता था, कई युग उनके इसमें बीत गये। आखिर किसी तरह दलसिंगार अपने साथी की पीठ पर शाम को घर पहुँचा। उस वक्त साथी की भी अवस्था दलसिंगार से अच्छी न थी।

गाँव में कुछ और लोगों को भी कै दस्त हुए। देवी ने एक

स्त्री के शरीर पर आकर कहा—"मैं तो अपना रास्ता पकड़ कर जा रही थी। यही दोनों लड़के मुझे यहाँ लाये। अब मैं खाली हाथ चुपचाप थोड़े ही जानेवाली हूँ।"

गाँव में कुहराम मच गया। दलसिंगार का साथी अपने नाना-नानी के यहाँ रहता था। नाना-नानी के एक ही लड़की थी, जिसके लड़के को वे बड़े लाड़प्यार से रक्खे हुए थे।

नानी ने कहा,—"हम लोग तो बूढ़े-बूढ़ी हैं, बच्चे को तो इस आग में नहीं रखना चाहिए।"

"अच्छा तो बच्चे को घर भेज देना चाहिये।" कह नाना उत्तर दिया।

दूसरे ही दिन दलसिंगार का साथी अपने पिता के घर भेज दिया गया।

* * *

देवी अपनी बात की सच्ची निकली। उस छोटे गाँव से भी उसने पन्द्रह आदमियों को लिया। दलसिगार को उसने छोड़ दिया। ऐसा होना भी चाहिए था, क्योंकि गाँव पर पहुँचाने में दलसिंगार ही तो उसका वाहन बना था। कई दिनों तक दल-सिंगार मृत्यु के मुख में पड़ा रहा। माँ ने भगवती के लिये शतचंडी के पाठ की मिन्नत माँगी। कुछ और छोटे-बड़े देवताओं के सामने भी गिड़गिड़ाया गया। इस प्रकार किसी तरह दल-सिंगार के प्राण बचे।

दलसिंगार के साथी के खेद की सीमा न थी जब उसने देखा कि उसे अकेले ही स्कूल जाना पड़ रहा है। बीमारी को गये दो-तीन महीने हो गये थे। दलसिंगार का शरीर भी पहले जैसी हालत में था। पहले तो उसने समझा कि बीमारी से उठने के

कारण दलसिंगार स्कूल नहीं भेजा जा रहा है। दोनों दोस्त रोज मिलते थे। रोज दलसिंगार को दूसरे दिन स्कूल चलने के लिये आग्रह होता था। किन्तु घरवालों की आज्ञा न मिलती थी। अपने मित्र की तरह दलसिंगार भी अधीर हो चला। बहुत आग्रह करने पर दलसिंगार को माँ ने कहा—"बेटा हमारे घर में पढ़ना नहीं सहता। हमारे दो जेठ पढ़कर बड़े पंडित हुए। आज भी देखो पश्चिम वाले घर की चौकी पर उनकी पोथियों की ढेर लगी हुई है। दोनों को एक खाट पर लदकर जाना पड़ा। बच्चा, जिन्दगी रहेगी तो बहुत है। पढ़कर क्या करोगे?"

लड़के पर माँ का सबसे बड़ा हक है। दलसिंगार की स्कूल जाने की बहुत इच्छा थी, यद्यपि वह इच्छा विद्या के लिये उतनी न थी जितनी की साथी के संग के लिए। घर के सयाने भी स्कूल जाने के उतने विरोधी न थे; लेकिन माँ जब जवानी में एक ही दिन मरे अपने दोनों जेठों के पढ़ने का उदाहरण देती, तो किसी को बोलने का हिम्मत न होती थी।

दलसिंगार का साथी अब रोज अकेले चार मील का रास्ता काटता था। रास्ते में उसके साथ बात करने वाला, खेल में साथ देने वाला कोई न था। कैसे सूने, कैसे नीरस वे दिन कटते थे, यह वही जानता था। दलसिंगार अब अपने घरवालों के छोटे-छोटे कामों में मदद देता था। दोनों मित्र अब भी हर दूसरे तीसरे एक-दूसरे से मिलते थे। अब भी दोनों एक-दूसरे से अपना प्रेम प्रकट करते थे; लेकिन दोनों के रास्तों में अब अन्तर था। एक स्कूल के रास्ते पर प्रस्थान करता था तो दूसरा हसरत की निगाह से उसकी ओर देखता था।

दो बरस और बीत गये। साथी अब चौथे दर्जे का विद्यार्थी

था। दलसिंगार यद्यपि इस सारे समय घर ही पर रहने के लिये मजबूर किया गया, तो भी उसके स्कूल जाने की इच्छा कम होने की जगह दिन पर दिन बढ़ती ही गई। कितनी ही बार उसने, बालकों के महान् अस्त्र रोने का प्रयोग किया। कितनी ही बार इसके लिए खाना छोड़ दिया, कितनी ही बार दूसरे वैध और अवैध तरीके इस्तेमाल किये। यद्यपि इसमें असफलता ही रही, तो भी उसने हिम्मत न हारी। घरवालों ने भी माँ को समझाना शुरू किया। दिन बीतते जाने से पुत्र की बीमारी की भयंकरता की स्मृति भी उसके मन से फीकी पड़ती गई। अन्त में दल-सिंगार को फिर स्कूल जाने की अनुमति मिल गई।

दोनों साथी फिर साथ-साथ स्कूल जाने लगे। रास्ते में फिर पहले ही की तरह खेल और तमाशे में उनके दिन हँसी खुशी में कटने लगे। लेकिन उनके दिल में सुई-सी चुभने लगती थी जब वे देखते थे कि उनकी कक्षाओं मे दो साल का अन्तर आ गया है। अब दोनों एक ही जगह टाट पर अगल-बगल नहीं बैठ सकते थे। एक चौथे दर्जे में था, दूसरा दूसरे दर्जे में। अब दोनों एक साथ अपने भौहों के बालों को धूप में नहीं डाल सकते थे। इसलिए दिन भी जल्दी नहीं कटता था। तो भी उनके मन में इतना संतोष था, कि घर से स्कूल तक दोनों एक साथ रह सकते हैं।

* * *

आखिर वही हुआ जिसका कि दलसिंगार की माँ को डर था। अब की रास्ता चलते कोई देवी नहीं मिली। दलसिंगार के साथी को यही मालूम हुआ कि उसका दोस्त बीमार हो गया है। अब भी वह रोज एक बार उसे देखने जाता था।

बुखार था और कोई और भी बीमारी थी। साथी के आने पर माँ बड़े प्रेम से कहती—"चलो बच्चा, देख लो। तुम्हारा दोस्त तुमको याद कर रहा है।"

नित्य की तरह साथी आज भी दलसिंगार के घर गया। अब बीमारी को महीना से ज्यादा हो गया था। दलसिंगार रोज-रोज कमजोर होता जा रहा था, लेकिन आज उसके साथी ने देखा कि दलसिंगार का सिर फूल कर कई गुना भारी हो गया है। पलकों की सूजन में आँखों का कहीं पता नहीं। उसके नन्हें से दिल में अब तरह-तरह की आशंकायें उठने लगीं। ऐसी आशंकाएँ जिनका आकार उसको स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता था, लेकिन दिल के भीतर एक तरह की ठंढक या टीस मालूम होती थी। दलसिंगार आज अपने दोस्त को न आँख से देख सका और न बोल सका।

———

(११)

उसके बाद ?

[उषादेवी मित्र]

मत्त हाथी-सी गाड़ी की गति अविराम था—भक् भक् भक्! यात्रियों की गुनगुनाहट, तर्क, सिगरेट के धुएँ और कलकंठ के हास्य से एक मूर्त सजीवता विराज रही थी। प्रत्येक वस्तु और जीव सचल थे। केवल एक सुकुमार युवक खिड़की से मुँह निकाले चुपचाप बैठा था। चलचित्रों के समान मनोरम दृश्य उसकी मुग्ध पुलकित दृष्टि से अन्तर्हित होते जाते थे। कदाचित् उसके शिल्पी हृदय में उनकी परछाईं ही नहीं वरन् उनके रूप और जीवन भी आँकते जाते थे। रेल की वह गति और डब्बे का अविरल कोलाहल उसके ध्यान की तन्द्रा पर लघु आघात भी नहीं कर सकते थे, मानों साक्षात् मृत्युञ्जय की साधना के ध्यान में बैठे हों।

कहीं गेहूँ की हरी बालें उन्नत सिर लिए खड़ी थीं। कहीं गायों का झुंड नदी-तट पर उतर रहा था। पर्वत-हृदय पर कहीं छोटी कुटी सूरजमुखी फूल सी खिल रही थी। लकड़ी की गठरी लादे कोई स्त्री झुकती चली जा रही थी। कहीं कपोत-दम्पती बच्चे को चुना रहे थे। शिल्पी के अतृप्त नयन उनके

माधुर्य से ओत-प्रोत-से, दुनिया को भूले-से दूसरे दृश्य पर अटक रहते।

वह था चित्र नगर के महामहिम प्रबल प्रतापी राजा सुबाहु का विश्वविख्यात शिल्पी दिनकर। लोग कहते थे—उसकी प्रस्तुत मूर्तियों में जीवन पड़ जाता, चित्र सवाक् हो जाते। युवक राजा सुबाहु उसे भृत्य की तरह नहीं, मित्र-सा मानते आदर सम्मान करते। दिनकर देश-पर्यटन में निकला था, एक साधारण मनुष्य की भाँति। बनाव-सिंगार तो उसे छू भी न गया था, न घमंड, न लालसा। वह अत्यन्त साधारण जीवन व्यतीत करता था। राजा के प्रिय शिल्पी को किसी बात की कमी न थी, किन्तु वह किसी ओर कभी लौट कर देखता नहीं। लोगों का कहना था—दुनिया में यह अकेला है, भाई-बन्धु, स्त्री-पुरुष कुछ भी नहीं। दिनकर यह सब सुनता और सुन कर रूमाल की आड़ में मुसकराता उसकी सहचरी, कल्पना की जीवित किन्नरी और नित्य नवीन सवाक् प्रकृति रानी की इन्हें भला क्या खबर। वही तो उसकी स्त्री, कन्या, माता, प्रिया, प्रेयसी, जीवन, सब कुछ था। फिर उसे जगत् के कोलाहल से, दान-प्रतिदान से सम्बन्ध? वह सन्तुष्ट था, तृप्त था और था विस्मय से विमूढ़—कल्पना किन्नरी और प्रकृति तिलोत्तमा से नित्य नवीन रूप से।

एक तीर्थस्थान के प्लेटफार्म में गाड़ी रुकी। कुछ लोगों के साथ वह उतर पड़ा। दिनकर हैंड केमरा लेकर चला। उसकी सौन्दर्य-प्यासी आँखों के सामने जो वस्तुएँ उत्कृष्ट जचीं, उनके चित्र भी वह केमरा में खींचता गया। गंगा के विशाल तट पर वह खड़ा हो गया! उसकी आँखें गड़ सी गयीं; भीड़ पर नहीं गंगा के कीचड़-म्लान जल पर। न जाने उस घुले जल में

उसकी दृष्टि ने कौन से सौन्दर्य, कौन से नूतनत्व का आविष्कार किया। भूखा-प्यासा उस धूप में वह अवाक् खड़ा रह गया।

हास्य, रुदन, विलाप, कलह से गंगा तट कोलाहल-मुखर हो रहा था। दूकानों पर बालक झुके थे। कोई वृद्धा भीड़ के पैरों से दबी चिल्ला रही थी। तरुणियों की रेशम-सी केशराशि जल पर लहरा रही थी। कितनी वृद्धाएँ जल में खड़ी माला जप रही थीं। नागा संन्यासियों के गेरुए वस्त्रों पर सूर्यकिरण दीप्त थी।

दुनिया की उस नूतन रूप-छटा से शिल्पी अपना परिचय आरम्भ करने जा रहा था, परन्तु एक सुरीली, मीठी, बाँसुरी-सी आवाज से दिनकर मानों सपने से जागा।

"लीला बहन, पकड़ो. डूबी जाती हूँ।"

उसने उस ओर देखा। रूप रानी-सी तरुणी गंगा-हृदय में साक्षात् गंगा की ही तरह सखी को पुकार रही थी। उसके दीर्घ केश से पानी की नन्हीं नन्हीं बूँदें झर रही थीं। भीजी साड़ी बदन से सट गई थी, हाथ के कंकण पानी में झिलमिला रहे थे। दिनकर विस्मय मुग्ध आँखें फाड़-फाड़ कर उस अनुपम रूप को देखने लगा। उस जीवित रूप-रानी की तुलना में सब तुच्छ थे। उसका शिल्पी-हृदय उस सुन्दरी को अमर बनाने के लिए मचल उठा। परिस्थिति को भूल कर उसने केमरा उठाया।

"केशर कुमारी, तुम कहाँ हो? हम सब तुम्हें ढूँढ़ती फिर रही हैं!"—मूल्यवान परिच्छद धारी कई स्त्रियों ने आकर उस तरुणी को घेर लिया उधर शिल्पी के केमरा में उस परी रानी का चित्र उठ गया।

पानी से निकलते निकलते केशर कुमारी की दृष्टि उस ओर पड़ गयी—"बहन, देखो, देखो !"

"अरे असभ्य, क्या कर रहा है ?"

शिल्पी ने अपने स्वप्नातुर नेत्र उठाये—"फोटो उतार लिया है।"—शिल्पी बोला।

सबकी सब अवाक् रहीं।

"कैसा ढीठ है, बहन !"

"नहीं, सरल।"—केशर कुमारी ने धीरे से कहा।

"इन्हें जानता है ?"

"नहीं।"

"फिर किसकी आज्ञा से तूने चित्र उतार लिया ?"

"जी चाहा।"

सब खिलखिला पड़ीं।

"असभ्य।"—एक सखी बोली।

"नहीं, चोर"—दूसरी ने आवाज लगायी।

चोर ! तो वह चोर है ? शिल्पी अवाक् विस्मय से उन्हें देखने लगा।

(२)

सुबाहु ने आदर से दिनकर की पीठ ठोंक कर पूछा—"बाहर से लौट कर गम्भीर क्यों हो गये मित्र ?"

"मैं ?"

उसकी चौंक राजा से छिपी न रही।

"और चिन्ताशील भी ?"

दिनकर मुरझा सा गया।

"और कपटी भी ?"

दिनकर चुप रहा।

"कपटी इस लिए कि बाहर से लाये नूतन और कदाचित् श्रेष्ठ सौन्दर्य को अपने राजा से छिपाना चाहते हो।"

इस बार शिल्पी बोला, धीरे-धीरे, मानो अपने को भूल कर—"नहीं।" उसके जीवन में यह प्रथम झूठ था।

सुबाहु जोर से हँसे—"इस शिशु-हृदय को लेकर दुनिया में क्यों आये थे, शिल्पी ? परिहास समझने की शक्ति भी नहीं है ? किन्तु आजकल ऐसे विकल क्यों हो रहे हो दिनकर ?"

"सुस्त पड़ा रहता हूँ।"—यह था द्वितीय असत्य। वह कैसे कहता कि केशर कुमारी के उस क्षुद्र चित्र को सामने रखे वह घंटों बैठा मूर्ति बनाया करता है, और जरा-सी भूल पर सिर पीटता फिर घंटों तक चित्र के सामने उस मूर्ति की नयन दृष्टि में वैसी ही विह्वलता लाने के लिए व्याकुल हो उठता है।—नहीं, वह उसे जगत् के सामने नहीं ला सकता।

मूर्ति बनाने के पहले उसकी अभिरुचि ऐसी नहीं थी। सोचे हुए था—मूर्ति शेष कर वह अपने राजा को पृथ्वी के श्रेष्ठ सौन्दर्य की भेंट करेगा; परन्तु न जाने कब, क्यों और कैसे मूर्ति जैसे-जैसे सम्पूर्ण होने की ओर बढ़ने लगी, उसका अभिप्राय भी वैसे ही वैसे बदलने लगा। दिन पर दिन वह उस मूर्ति में ऐसा आकृष्ट होने लगा कि खाना-पीना तक भूल गया।

एक दिन वह अपनी जिन मूर्तियों को देखकर स्वयं मुग्ध हो जाता, अपनी सफलता पर फूला न समाता और जिन चित्रों को देखकर दर्शक आत्म-विस्मृत हो कर चित्र लिखे से रह जाते, अपनी उन्हीं कृतियों को देख कर वह विराग से मुँह

फेर लेता। अपने आप हँसता, कहता—अन्धा था अन्धा, वरना इतनी बड़ी भूल दिखी क्यों नहीं ! उनमें जीवन ही कहाँ ? नहीं, उस सजीव मूर्ति को वह किसी को न दे सकेगा—अपने राजा को भी नहीं।

राजा व्यस्त हुए—"कहा क्यों नहीं ? राजवैद्य को अभी बुलवाता हूँ।"

नहीं महराज, क्या प्रयोजन !"

"अच्छे कैसे होगे !"

वह सचेत हुआ—"मैं बीमार तो हूँ नहीं, बाहर की जलवायु से योंही कुछ सुस्ती-सी रहती है, दो दिन में सब ठीक हो जायगा।"

"किन्तु दिखलाने में हानि ही क्या है ?"

वह हँसा "स्वस्थ शरीर को अवस्थ बनाना वैद्यों का नियम है। यदि उन्होंने किसी बड़े रोग का नाम बतला दिया तो आपकी शादी की मिठाइयाँ यों ही जावेंगी।"

राजा जोर से हँसे—"झूठ नहीं कहते। किन्तु मित्र देवी का और मेरा चित्र सर्वाङ्ग सुन्दर होना चाहिये। तुम्हारी उस उत्कृष्ट कला को, सुघर सृष्टि को देखकर जगत् अवाक् रह जाय। समझे ? यह तुम्हारी शेष और श्रेष्ठ परीक्षा है।"

म्लान स्तिमित नेत्रों से शिल्पी सिर झुका कर बैठा। वह तो अपना सब कुछ उस मूर्ति के पैरों तले लुटा चुका था, अब अवशिष्ट कुछ भी नहीं था—तो वह उस रिक्त, सर्वशान्त, अशक्त हृदय, मन और हाथों से दुनिया को कैसे सन्तुष्ट करेगा ?

चित्रा नदी के सामने एक सुन्दर मकान की बन्द कोठरी में ध्यानमग्न दिनकर मूर्ति के सामने बैठा था। उसकी मूर्ति शेष हो

चुकी थी। मकान के दूसरे कमरों, दालानों में सुन्दर मूर्तियाँ और चित्र रखे थे।

मकान दिनकर का था।

वह बैठा था—जैसा कि वह बैठा रहा करता था—भूख-प्यास और राजाज्ञा को भूल कर।

उसकी विशाल दुनिया अब संकुचित हो चुकी थी, सृष्टि की तूलिका सीमित हो गई थी—केशरकुमारी की मूर्ति के अणु-परमाणु में उसकी अन्तर की शक्ति बन्द हो चुकी थी—उन्हीं मदभरे, भोले नयनों में। उसकी दुनिया वही थी; सुख, शान्ति, आनन्द और आराम भी। वह उसी में तुष्ट था, इससे अधिक उसे जरूरत नहीं। वह था भक्त और वह थी उसकी देवी। पूजा, भक्ति, नीरव अर्घ्य, नित नये रूप में वह उसे दिया करता था। बस, वही था उसका वास्तविक जीवन, पुजारी पूजा करके तृप्त था, वरदान की आशा नहीं रखता था और न प्रतिदान की ही।

एक दिन वह था, जब कि शिल्पी जगत् से परिचित होना चाहता था, परन्तु उसके लिए यह भी एक दिन आ गया, जब वह उसी जगत से अपने को छिपाना चाहता था, किन्तु विश्व उसे छोड़ना नहीं चाहता था।

मूर्ति की गंगाभ-प्रदीप-सी आँखों में आँखें गड़ा कर कभी वह सोचता—क्या देवी को लेकर कहीं भाग जाऊँ? जंगल में एक कुटिया बना लूँ, जहाँ उसके और मेरे सिवा कोई तीसरा न रहे, जहाँ उत्सव की बाँसुरी कभी नीरव न हो, चन्दन शाखाओं पर का मोर कभी केका को न भूले, श्यामल मिट्टी के आँचल के फूल कभी मुरझा न जायँ, जहाँ चाँद का टुकड़ा नित्य अपने

दीवट को जगाया करे और उसी उजेले में बैठ कर हम दोनों जासून के रंग से फाग खेला करें, चम्पा की कलियों से माला गूँथा करें, सर्पमणियों से मुकुट बनाया करें, आम की पत्तियों पर सोया करें।'

कभी सोचता—क्या मैं उसे लेकर पाताल पुरी में चला जाऊँ जहाँ शेषनाग के सहस्रों फनों में हीरक-दीवट जला करते हैं, कुंड से अमृत बहा करता है और नाग-कन्या की चोटी में माणिक झूला करता है ? क्या उसी विरामहीन आनन्द में अपनी देवी को लेकर भाग जाऊँ।

कभी सोचता—समुद्र के अतल ही में क्यों न छिप रहूँ ? वहाँ की विराट् स्तब्धता केवल उसे और मुझे घेरे रहेगी, एक झींगुर भी न बोलेगा, न एक हलका-सा पवन। रहेगी मात्र वह और मैं, एक दूसरे में सीमित होकर।

एक दो करके मास और वर्ष बीतने लगे।

अर्धरात्रि की निस्तब्धता में दिनकर मूर्ति के सामने बैठा था। उसके हृदय में महाप्रलय-सा मचा था। आँसुओं से वह अन्धा हो रहा था। वेदनातुर स्वर में वह धीरे-धीरे बड़बड़ा रहा था—"अरी गूँगी ! बोल, एक बार भी तो बोल। इस तरह मैं कैसे जीऊँगा ? मेरी बहरी देवी, पुजारी की जीवनव्यापी कठोर तपस्या को कभी तो मुँह उठाकर देख। इतने दिनों की तन्द्राहीन रातों के काटने का कुछ पुरस्कार तो दे। गूँगी-बहरी कब तक बनी रहेगी ? ऐसी कठोर, ऐसी निर्दय ? हृदय का अस्तित्व क्या तुझमें है नहीं ? मेरी देवी ! बोल, एक बार मुझे पुकार, केवल एक बार मीठे स्वर में, बहुत ही धीरे, छोटे शब्द में जी खोलकर पुकार तो ले ! नहीं, इस तरह मेरी आत्मा संतुष्ट नहीं हो सकती।

—हाँ, तो शिल्पशास्त्री के जगत् में उस दिन का अन्त हो चुका था जिस दिन की उसकी काम्य थी केवल निर्जनता और आराध्य थी यह मूक मूर्ति ।

उस दिन वह केवल निर्वाक मूर्ति ही में तुष्ट था। किन्तु उस दिन, ऐसे एक दिन के आने की उस भोले सरल शिल्पी को भला क्या खबर थी।

वह बावला-सा चिल्ला उठा—"मैं चाहता हूँ प्रतिदान, माँगता हूँ वरदान, सुनती हो, शब्दमय वाणी ?"

(४)

राजा सुबाहु की सभा भरी थी। यथास्थान सभासद बैठे थे। राजा के मुँह पर अन्धकार था और दिनकर सिर नीचा किये बैठा था। राजा और रानी का बड़ा-सा चित्र सामने रखा था।

"यह चित्र है या खिलवाड़ ? एक अनाड़ी भी इससे अच्छा चित्र बना सकता है। इस अवहेलना का कौन-सा दण्ड लेना चाहते हो, दिनकर !"

"जैसी अभिरुचि"—सब कुछ खोया-सा दिनकर बोल उठा।

कुछ देर उसे देखकर सुबाहु ने कहा—"मुझे आश्चर्य है, दिनकर, वह कौन-सी ऐसी वस्तु है जिसने जगत् के श्रेष्ठ शिल्पी को अधःपतन की शेष सीमा में उतार दिया ? मुझे खेद है, शिल्पी तुम्हारी आत्मा की इस पराजय से। क्या एकान्त में तुम मुझे इसका कारण बता सकते हो ?"

"नहीं।"

"इसे अवहेलना समझूँ या अधःपतन ?"

"महाराज स्वयं बुद्धिमान् हैं"—दिनकर ने हाथ जोड़ कर कहा।

व्यथा से राजा ने मुँह फेर लिया—"जाओ महीने भर विश्राम के बाद आना।"

दिनकर चला गया।

राजा के मित्र, जो दूर देश से आये थे, उन्होंने कहा—"क्या मैं शिल्पशास्त्री की चित्रशाला देख सकता हूँ ?"

"बाधा ही क्या है ?"—सुबाहु ने उत्तर दिया।

"मुझे तो उतना नहीं, किन्तु 'उसे' शिल्प से बड़ा प्रेम है।"

"ऐसा ! कल चलिये देवी को साथ लेकर।"

सभा भंग हुई। राजा मित्र सहित अन्तःपुर में चले गये।

मूर्ति के सामने बैठा शिल्पी वैसे ही पुकार रहा था—"मेरी गूँगी देवी, एक बार बोल, तेरा पुजारी वरदान की भीख माँग रहा है।"

ध्यान मग्न दिनकर को उन तीन व्यक्तियों के अस्तित्व का पता तक न चला जो उसके पीछे खड़े थे।

राजा सुबाहु के नेत्र घृणा और क्रोध से प्रदीप्त हो उठे। मित्र आश्चर्य से निर्वाक् रहा—और केशरकुमारी के नेत्र व्यथा से स्तिमित-से हुए। उसकी आँखों के सामने न तो शिल्पी था न मूर्ति थी, केवल प्रशस्त गंगा के तट पर एक भोला-सा मनुष्य, और जल के भीतर भोली-सी लड़की, सखियों की मीठी हँसी। "चोर"—अचानक उसके कंठ से निकल पड़ा—"चोर"। दिनकर ने एक बार घूम कर देखा उस स्वर से वह परिचित था !

बोली, इतने दिनों के बाद उसकी आराध्य देवी जयमाला

हाथ में लिये वरदान देने को अपने पुजारी के द्वार पर खड़ी थी, किन्तु शिल्पी का हृदय उस पुकार का उत्तर न दे सका। उस देवी का पति अभिशाप की तरह वरदान की माला में उज्ज्वल हो उठा। उसने आँखें फेर लीं। नहीं, वह उस पति की पत्नी से परिचित नहीं था। वह तो, उस कुमारी का पुजारी था जिसकी मूर्ति उसके सामने थी।

कारागार का द्वार धीरे से खुल गया। स्त्री-कंठ की धीमी पुकार से दिनकर विस्मित-सा उठ बैठा।

"तुम कौन हो ?"—उसने कठोर स्वर से पूछा।

"केशरकुमारी की सखी लीला।"

"इतनी रात बीते पुरुष के पास किस उद्देश्य से आयी हो ?"

"रानी का सन्देश कहने।"

"जाओ देवी, मैं उनका कुछ भी सन्देश नहीं सुन सकता।

"अभी तो उनका चित्र चुरा भागे थे, और उसकी मूर्ति की प्रतिष्ठा कर दिन रात उस बेचारी को आकर्षण किया करते हो !"

शिल्पी भौंचक-सा रह गया।

"किन्तु मैंने कुमारी का चित्र चुराया था और उन्हीं का ध्यान किया करता हूँ ?"—देर के बाद वह बोला।

"ध्यान नहीं, आकर्षण कहो।"

"आकर्षण ! और मैंने ?"

"हाँ, एक निर्दोष को इस तरह आकर्षण कर अब कहते हो --'सन्देश नहीं सुन सकते।' तुम्हें लज्जा नहीं, तुम मर्द हो ?"

"किन्तु मैं कुमारी जी को पूजा...।'

"फिर वही बात।"

"किन्तु कुमारी..."

इस बार वह खिलखिला पड़ी—"तो रानी केशरकुमारी कुआँरी नहीं तो क्या हैं ? मैं तुमसे ज्यादा बात नहीं कर सकती। तुम वरदान की भीख माँग रहे थे, लो, देवी ने अपने हाथ की अँगूठी भेजी है। अपनी अँगूठी दे दो। बस, अब मैं जाती हूँ, अपना काम कर चुकी। अब तुम्हें जैसा दिखे वैसा करो।"

लीला चली गयी।

और शिल्पी ? वह देवी के प्रथम और श्रेष्ठ दान को लेकर अपने उस मृत्यु-मन्दिर में चुपका बैठा रहा, कौन जाने उसकी आत्मा दुखी थी या सुखी !

---

(१२)

बिजली

[रामानुजलाल श्रीवास्तव]

जिसमें प्रतिभा है उसे रंग जमाते देर नहीं लगती। देखिए कैसे ढंग से बात शुरू की गई है कि पढ़ने वाले को अपने आप आगे का हाल जानने की उत्सुकता होती है :—

"है तो तारा, परन्तु शक्ति शालिनी महामाया है क्या ? नहीं; बालि की स्त्री ? नहीं, वृहस्पति की भार्या ? नहीं, हरिचन्द्र की रानी भी नहीं ! अजी, इस पाँचवीं तारा को आप तब जानेंगे जब आगे पढ़ेंगे।"

एक बार मैं भी अपनी प्रतिभा की अग्नि-परीक्षा करता हूँ। देखिए ! आसमान में चमक कर ठीक राजा बलि की छाती पर गिरने वाली बिजली वह नहीं थी, हमारे साइंस-मास्टर की बतलाई धन-विद्युत् वह नहीं; ऋण-विद्युत्, भी नहीं थी और मार्टिन कम्पनी की बदौलत गली-गली टिमटिमाने वाली बिजली तो वह बिलकुल थी ही नहीं। हमारी बिजली......।

परन्तु आपके ऊपर इस भूमिका का तो कुछ असर ही नहीं हुआ। इस धन विद्युत्, ऋण-विद्युत्, और मार्टिन कम्पनी की ठूँसठाँस ने सारा मजा ही किरकिरा कर दिया। इससे अच्छा

तो यह होता कि हम सच बात ही लिख देते कि हमारी बिजली आँखें चौंधिया देने वाली, कलेजा हिला देने वाली और यदि आप अतिशयोक्ति न समझें, तो एक ही कड़क से अनेक गर्भपात करा देने वाली बिजली थी। वह काल्पनिक नहीं यथार्थ थी।

और थी वह रानी! सारी प्रजा उससे थर-थर काँपती थी उसके आँख के इशारे से चलती थी। परन्तु बुरा हो इस मनहूस इश्क और उस बेईमान मोती का! राज गया, पाट गया, इज्जत गई, हुकूमत गई और आगे क्या हुआ वह भी सुनिए।

(२)

एक दिन वह कुछ चुने हुए मुसाहिबों के साथ वायुसेवन कर रही थी कि दूर से मोती आता हुआ दिखाई पड़ा। उसे देखकर वह ठिठक गई। अपने साथियों से कहा—"देखो तो यह कौन उजड्ड की तरह चला आ रहा है!"

गौर से देखकर मुसाहिबों ने कहा—'अपने राज्य की प्रजा नहीं है महारानी! कोई अजनबी जान पड़ता है।'

पास आ जाने पर भी जब मोती ने आदाब, कोर्निश कुछ नहीं की तब बिजली की आँखों से आग बरसने लगी। वह रानी थी। उसे अपनी प्रतिष्ठा का ज्ञान था। एक परदेशी उसके राज्य में, उसी से ऐसी अभद्रता का व्यवहार करे! असम्भव। उसे शिक्षा देने के लिए वह उस पर तूफान की तरह टूट पड़ी। परन्तु मोती पहाड़ की तरह अचल खड़ा रहा। शान्तिपूर्वक उसके वार को बचाकर मोती ने पूछा—"अरे अरे, यह क्या करती हो?"

पैतरा बदलते हुए बिजली ने कहा—"तेरी हेकड़ी की सजा देती हूँ। ले सम्हल।"

मोती ने मुसकराते हुए कहा—"वाह! अतिथि का स्वागत तो इस राज्य में बहुत अच्छा होता है! अच्छा, मेरा पौरुष ही देखना है, तो अपने सेनापति को भेजो। हम लोग स्त्री जाति पर हमला करना निन्दनीय समझते हैं।"

बिजली सोचने लगी—यह उजड्ड क्या बकता है, कुछ समझ में ही नहीं आता। उसने पूछा—"तूने क्या कहा 'अतिथि'?"

मोती—"और क्या!"

बिजली—"अतिथि क्या?"

अब की मोती की हँसी चारों ओर गूँज गई। उसने कहा—"बड़े असभ्य हो तुम लोग। 'अतिथि' भी नहीं जानते? अरे जो परदेशी तुम्हारे घर आ पहुँचे वही अतिथि है।"

बिजली—"बिना बुलाये, बिना पूछे?"

मोती—"क्या हर्ज है। यदि कोई बिना बुलाये, बिना पूछे ही आ गया तो क्या दुश्मन हो गया?"

बिजली—"तो तुम अतिथि का क्या करते हो?"

मोती—"उसका आदर सत्कार करते हैं। उसे रोट और गुड़ खिलाते हैं। फिर उससे आने का कारण पूछते हैं और जहाँ तक हो उसकी सहायता करने का प्रयत्न करते हैं।"

बिजली—"ठहरो जरा ठहरो। रोट और गुड़ क्या?"

मोती ने खिलखिला कर कहा—"अरे तुम लोग तो निरे जंगली जान पड़ते हो। रोट और गुड़ भी नहीं जानते! अच्छा तुम्हारे यहाँ राजा-रानी क्या खाते हैं? तिथि-त्योहार में तुम लोग क्या खाते हो?"

मोती का व्यङ्ग सुन कर सेनापति ने कहा—"जरा होश में आकर बातें करो। यदि फिर से महारानी की शान में जंगली-अंगली शब्दों का प्रयोग किया तो याद रखना—हड्डी-पसली तोड़ दूँगा।"

इतना कह वह आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा। बिजली ने कहा—"जरा सुनो तो इसकी नई-नई बातें। अच्छा जी अतिथि तुमने कभी कटहल खाया है?"

अब की मोती ने आश्चर्य के कहा—"कटहल क्या?"

बिजली और उसके मुसाहिब हँसने लगे। बिजली ने कहा—

"आइये, आपको कटहल खिलायें।"

सब लोग जंगल में घुस पड़े। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते एक कटहल का पेड़ मिला। कुछ फल तोड़े गये। बिजली ने पूछा—"कैसा है?"

मोती ने कहा—"अच्छा है परन्तु गुड़ गुड़ ही है, उसकी मिठास को यह थोड़ी पा सकता है।"

बिजली—"सच?"

मोती—'किसी दिन सच-झूठ का निपटारा हो जायगा।"

बिजली ने कहा—"खैर, आपका सत्कार तो हो चुका, अब आप अपने आने का कारण भी बतला दीजिये।"

मोती की आँखों में एक शरारत की लहर दौड़ गई। वह शहर का रहने वाला था। लच्छेदार बातों से मतलब निकालना जानता था। छेड़ का मौका पहिचानता था। उसने धीरे से कहा—"मैं यहाँ आया हूँ एक रानी की तलाश में।"

सेनापति की आँखों में खून उतर आया। वह मन ही मन अपने को बिजली का प्रेम-पात्र समझता था। एक परदेशी से

इस तरह घुलघुल कर बातें करते देख, वह यों ही जला जा रहा था। अब इस बेहूदी छेड़ से उसका कलेजा तिलमिला उठा। उसकी छाती से एक हुँकार निकल पड़ी परन्तु बिजली पर इस छैलचिकनिये का चक्र चल चुका था। एक तीक्ष्ण दृष्टि से उसने सेनापति को ठंढा कर दिया। उसकी प्रजा जानती था कि बिजली के प्रहार के सामने 'बिजली' का प्रहार भी कुछ नहीं है। उसने मोती की ओर मुड़कर पूछा—"तो क्या तुम राजा हो ?"

मोती ने कुछ रुष्ट होकर कहा—"और तुमने क्या समझा था कि कोई ख़वास हूँ ?"

बिजली—"नहीं, नहीं; यों ही पूछा ?"

मोती—"पूछा क्या ? देखती नहीं हो ?"

बिजली—"क्या ?"

मोती ने अपने माथे की ओर इशारा कर दिया। बिजली और उसके साथियों ने देखा कि मोती के माथे पर कुछ लाल, सफेद चित्रकारी-सी बनी हुई है।

बिजली ने पूछा—"यह क्या है ?"

मोती—"इतना भी नहीं मालूम !"

बिजली—"नहीं।"

छाती फुलाकर, माथा उठाकर, मोती ने कहा—"यह राज-तिलक है। राजाओं के माथे का आभूषण है।"

बिजली ने एक व्यंग-पूर्ण दृष्टि सेनापति की ओर फेंकी, जिसका मतलब था—"देखा !"

सेनापति तनिक भी विचलित नहीं हुआ। माथे का चन्दन-बन्दन देखते हुए उसने मोती के कान के पास कुछ घाव-सा देख लिया था। उसे बुजुर्गों के कहे हुए कुछ किस्से याद आ रहे थे।

उसने कहा—"जरा राजा साहब से यह पूछिए कि उनके कान में क्या लग गया है ?"

केवल एक क्षण के लिए मोती कुछ विचलित-सा हुआ। परन्तु उसकी स्वाभाविक धूर्तता तुरन्त आड़े आ गई।

"क्या कहा कान के पास ?"

"हाँ।"

"मर्दों को ऐसी चोटें लगती ही रहती हैं। इनका जिक्र ही क्या ?"

"फिर भी ?"

"अजी मामूली-सी बात है। मैं चला जा रहा था कि झाड़ी में से एक शेर झपटा।"

शेर का नाम सुन कर सभी लोग कुछ चौकन्ने हो गये। वे जानते थे कि अकेले-दुकेले शेर का मिलना और मौत का मिलना बात एक ही है।

बिजली ने पूछा—"फिर क्या हुआ ?"

मोती—"होता क्या ? उसका सिर पर आना था कि मैंने पास ही एक पीपल की पींड से सिर भिड़ा दिया। बेटा बहुत कुड़मुड़ाये परन्तु जब तक अँतड़ियाँ नहीं निकल पड़ीं तब तक मैं बराबर दबाये ही तो गया।"

बिजली ने फिर सेनापति पर व्यंग-वर्षा की। सेनापति ने मन ही मन कहा—"देखा जायगा। जो गरजता है, वह बरसता नहीं।"

(३)

मोती इस राज्य में आकर आबदार हो गया। जो इज्जत बिजली को थी, वही उसकी भी थी। कभी-कभी हजरत को भंवर

दिखाई पड़ने लगता परन्तु धूर्तता के सहारे वह किनारा काट जाया करता था। एक दिन खबर मिली कि राज्य में एक शेर घुस आया है। हमले की तैयारी होने लगी। मौका देखकर सेनापति ने कहा—"सब लोगों के जाने की जरूरत क्या है? राजा साहब तो अकेले एक शेर के लिए काफी हैं!" मोती बगलें झाँकने लगा। झट एक बहाना सूझ गया। उसने कहा—"अजी ऐसे सैकड़ों शेर इन पैरों तले रौंद चुका हूँ, क्या कहूँ, आज मैंने मिट्टी खाली है, (जुलाब ले लिया है) लाचारी है, नहीं तो...।"

बीच ही में बिजली ने घुड़क कर सेनापति से कहा—"तुम हमले की तैयारी करो और बीच-बीच में जबरदस्ती अपनी राय मत ठूँसा करो।" उसने मोती से कहा—"अच्छा, अच्छा मोती! तुमने मिट्टी खा ली है तो आराम करो। हम लोग अभी हमले से लौटकर आते हैं।"

मोती ने कहा—"क्या कहूँ बिजली, दिल के अरमान दिल ही में रह गये।"

बिजली—"खैर, देखा जायगा।"

मोती जानता था कि रोज-रोज तो शेर से युद्ध होता नहीं। एक बार अलफ कटी सो कटी।

शिकार से लौटने पर मोती ने पूछा—"क्या हुआ?"

बिजली—"शेर का कचूमर निकल गया यद्यपि हमारे दो साथियों को भी बहुत चोट आई।"

मोती—"अरे तुमने उसे मार क्यों डाला?"

बिजली—"तो क्या करते?"

मोती—"पकड़ कर पिंजड़े में बन्द कर देते।"

बिजली—"पिंजड़ा क्या?"

मोती—"पिंजड़ा नहीं जानतीं ! कटघरा, जिसमें दुश्मनों को कैद किया जाता है।"

बिजली—"हमारे यहाँ तो पिंजड़ा नहीं है।"

मोती—"अच्छा मैं अपने आदमियों से बनवा कर भेज दूँगा।"

बिजली—"आदमी क्या ?"

मोती—"आदमी नहीं देखा ? दो पैर का एक दुर्बल जीव होता है, जो हमारी खिलाने-पिलाने और लीद उठाने की नौकरी किया करता है।"

इन बातों से ही मोती की इज्जत थी। बिजली इसकी रसिकता और अनुभव-शीलता पर फिदा थी। उसके गिरोह की इतनी हिम्मत नहीं थी कि उनकी मर्जी में दखल देता।

(४)

एक दिन इसी प्रकार गप-शप करते मोती और बिजली एक गाँव के किनारे आ गये। गन्ने के खेत देख कर मोती के मुँह में पानी आ गया। उसने बिजली से कहा—'आओ, तुमको एक नई चीज चखाऊँ।" दोनों खेत में पिल गये। बिजली को तो जैसे अमृत मिल गया। मोती ने पूछा—"कैसा है !'

बिजली—"क्या बतलाऊँ !"

मोती—"कटहल से !"

बिजली—"कहाँ गन्ना, कहाँ बिचारा कटहल।"

मोती—"यदि इस रस को जमा कर कोई कटहल के समान भेले तुम्हें दे दे तो ?"

बिजली—"तो बस जीवन सफल हो जाय।"

मोती—"अच्छा तो सुनो बिजली; इसी रस को जमा कर गुड़ बनाते हैं गुड़ !"

बिजली—"नहीं !"

मोती—'मैं कहता हूँ—इसी रस को जमा कर गुड़ वनाते हैं ?"

बिजली—"और तुम अपने राज्य में रोज गुड़ खाते हो !"

इसके जवाब में मोती ने जरा सा मुसकरा दिया। स्त्री-सुलभ कटाक्ष का प्रयोग करते हुये बिजली ने कहा—"मोती, मुझे तुम, अपना राज्य न दिखाओगे ?"

मोती -"दिखाऊँगा।"

बिजली— कब ?"

मोती को दाँव हाथ लगा। उसने कहा—"जब तुम रानी बनना स्वीकार कर लोगी।"

बिजली ने लजा कर कहा—"तो क्या मैं तुम्हारे कहने से किसी तरह बाहर हूँ ?"

(५)

अब गन्ना रोज का कार्यक्रम हो गया। पहुँचते-पहुँचते राजा तक खबर पहुँची कि फलाँ गाँव में हाथी बड़ा ऊधम मचा रहे हैं। तुरन्त सैनिक प्यादे महावत इत्यादि भेजे गये। भुजबल महावत ने मोती को देखते ही पहचान लिया। जिस रोज से मोती भागा था बिचारा नौकरी से बरतरफ कर दिया गया था। आज उसकी जान में जान आई। दूसरे दिन गुड़ मँगवाया। जान पर खेल कर भेले हाथ में लिये भुजबल आगे बढ़ा। उसने पुकारा —"मोती बेटा ले ले"। मोती ने देखा—गुड़ ! भुजबल !! उसके

हृदय में संग्राम होने लगा। कहाँ यह स्वतन्त्र वायु-मंडल, बिजली का प्रणय और कहाँ वह केवल आध सेर की भेली। नहीं जाऊँगा, एक बार स्वतन्त्र हो गया हूँ, अब फिर से साँकलों में नहीं बँधूँगा। अंकुश से नहीं बँधूँगा। भुजबल ने फिर से पुकारा—"अरे बेटा भूल गया क्या ? ले तो ! आ ! गुड़ खाले।" मोती ने सोचा "आह ! कितने दिन हो गये गुड़ खाये ? स्वतन्त्र वायु-मण्डल में और और सब अच्छा है परन्तु शेर का हमला ? बाप रे ! एक बार मिट्टी खाने का बहाना कर के बच चुका हूँ। फिर वही मौका आया तो क्या करूँगा ? बेचारे दो साथी तो उस हमले की भेंट हुए। कौन जाने अब मेरी ही बारी हो। इससे अच्छी तो अंकुश ही की मार है। कान सड़ जाता है पर जान तो नहीं जाती। और बिजली ? बिजली तो अब मेरी बिना दाम की दासी है। खूब शगल रहेगा। "रोट और गुड़ और बिजली !!" मोती ने एक परिचयात्मक 'किर' की आवाज दी। भुजबल की बाछें खिल गईं। "पहिचान लिया बेटा" कहते हुये वह कुछ आगे बढ़ा।

"कौन है बड़ी देर से टें-टें लगाये हुए है; दूँ हजरत को एक दुच"—बिजली ने कहा।

मोती—"अरे कहीं ऐसा करना भी मत ! मेरा पुराना नौकर है।"

बिजली—"क्या कहता है ?"

मोती—"कहेगा क्या ? गुड़ लाया है और लाया है प्रजा की वापस लौट चलने की फर्याद।"

बिजली—"गुड़ ?"

मोती—"हाँ।"

बिजली—"चलो न, खा कर देखें !"

मोती—"चलो।"

मोती बढ़ा, बिजली भी साथ हुई। भुजबल के लिये जीवन-मरण की समस्या उपस्थित हो गई। उसके कुरते में अंकुश छिपा था। चारों ओर भाले वाले भी छिपे थे। जरूरत पड़ने पर वह एक बार मोती से लोहा ले सकता था। परन्तु वह नवीना ! जिसको न 'धत' का शऊर न 'मल' का ! अब सोच-विचार का अवसर नहीं था। उसने निश्चय किया कि या तो लड़के को भी महावती मिलेगी या लड़के की माँ विधवा होगी।

मोती ने गुड़ की भेली बिजली की ओर बढ़ा दी। दूसरी भेली उसने मुँह में डाली। गुप्तचर प्रकट हो गये। भेलियों का ढेर लग गया। दोनों ने जी भर कर गुड-सेवन किया। कृतज्ञता से बिजली पानी-पानी हो गई। जब भुजबल को सिर पर चढ़ा कर मोती आगे बढ़ा तब बिजली भी बिना किसी आपत्ति के पूँछ की तरह उसके पीछे चली गई।

राजधानी पहुँचते पहुँचते मोती के जी में आया—लौट चलूँ। उसके ठिठकते ही खच से अंकुश कान खरोच गया। उसने सोचा—"मैं तो डूबा, परन्तु बिजली के लिये अब भी समय है। उसने पुकारा—"बिजली !" बिजली आगे बढ़ी ! उसका वह गोल मटोल शरीर ! उसका वह यौवन ! उसका वह सौन्दर्य—और उसकी वह मस्तानी चाल, जिसकी नकल-मात्र से कवि झूमने लगते हैं ! मोती फिसल पड़ा। उसने कहा—"बिजली, जरा साथ-साथ चलो, अब राजधानी में प्रवेश करना है।" बिजली ने कहा—"बहुत अच्छा।"

भीड़ को मोती ने प्रजा, हथसाल को महल और महावतों को

नौकर चाकर बतलाया, परन्तु जब रोट गुड़ खाते हुए किसी ने धीरे से पैरों में साँकल डाल दी तब बिजली को अपने अधःपतन का ज्ञान हुआ।

(६)

वह बहुत उछली, कूदी, चिलाई। मोती पर दाँत पीस कर उसकी ओर बढ़ी; परन्तु मोती की और उसकी स्थिति विभिन्न थी। वह पुराना गुलाम था। उसकी बेड़ियाँ खुली हुई थीं और बिजली थी अभी नई फँसी हुई चिड़िया। मोती भाग खड़ा हुआ। उसके लिए दूसरे हथसाल की तजवीज की गई।

दिन प्रतिदिन बिजली के साथ क्रूरता का व्यवहार होने लगा। रोट और गुड़ की जगह अब सूखा धान और पीपल की पत्तियों पर गुजर होने लगी। वह भी जब वह 'धत' कहते बैठ जाती और 'मल' कहते साँकल पिरोये हुए पैरों से लँगड़ा-लँगड़ा कर चलने लगती। यदि आज्ञाओं के पालन में तनिक भी आना-कानी हुई तो चार पहर के दिन बिना दाना-पानी के काटने पड़ते थे। जहाँ जाती सिर पर महावत होता और कान पर अंकुश, आगे चार छः बल्लमधारी और पीछे सवार। मार खाते-खाते कान पक गये, रोते-रोते आँसुओं की लकीरें बन गईं और अपनी पिछली हालत के लिये बिसूरते-बिसूरते, जिस शरीर की गठन की धूम थी, उसमें हड्डियाँ दिखने लगीं। मोती ने देखा तो मुँह फेर लिया; उसकी आँखों से भी दो बूँद आँसू गिर पड़े।

उसने कहा—"बिजली माफ करो। इन दुष्टों का कहा मान लिया करो। इस तरह जान देने से क्या फायदा ?"

बिजली व्यंगपूर्वक मुसकराई। उसने मन ही मन कहा—"ठहर रे धूर्त ! तुझ से तो किसी दिन बदला लेकर ही रहूँगी।"

इस प्रतिज्ञा के बाद बिजली का स्वभाव शान्त हो गया। महावत ने समझा अब वह हिलमिल गई। धीरे-धीरे पीठ पर हौदा रख गया, फिर भी बिजली ने कुछ आपत्ति नहीं की। और कुछ दिन ठहर कर साँकलें खोल दी गईं।

एक दिन राजा साहब की शिकार की तैयारी हुई। उन्होंने महावत को बुलाकर पूछा—"बिजली हाँके में जायगी ?"

महावत—"जायगी अन्नदाता !"

महीनों के बाद जंगल देखकर बिजली का हृदय प्रसन्न हो उठा। उसने सोचा—"चलूँ : अब मुझे रोकने वाला कौन है ?' परन्तु चारों ओर मनुष्यों की भीड़ थी। सिर पर महावत तो था ही; पर पीठ पर हौदा लिए हुए अपने साथियों को कौन मुँह दिखलावेगी। फिर अभी मोती से बदला लेना बाकी था। वह मन मार कर रह गई।

हाँका शुरू हुआ। उसकी घ्राणशक्ति ने शेर का पता बता दिया। उसके हृदय में फिर से पुराना जोश जागृत हो उठा। वह भूल गई की वह कैदी है, दासी है, सेविका है। थोड़ी देर के लिये शेर और हमले के अतिरिक्त सब कुछ लोप हो गया। उसकी गति को रोकना कठिन हो गया। शेर निकला। राजा साहब ने बन्दूक चलाई परन्तु गोली उछाती लगी। शेर घायल होकर नाले में घुस गया। मोती बुलाया गया। वह काँपता हुआ आया। राजा साहब बैठे परन्तु मोती टस से मस न हुआ। इधर बिजली रोके नहीं रुकती थी। राजा साहब बिजली पर आ बैठे। बिजली ने जाते जाते कहा—"आइये न मोती साहब आप तो शेर को पिंजड़े में बन्द कर लेते हैं !"

मोती ने कहा—"चुप राँड़।"

बिजली ने कहा—"ठहर रे पाजी।"

बिना किसी सहायता के बिजली ने घायल शेर का पीछा किया। अचानक शेर बिजली पर उछला। बिजली ने भी तड़पकर पैतरा बदला, परन्तु आपसी मारकाट के पहले ही राजा साहब की गोली शेर की छाती पार कर गई। फिर भी बिजली झपटी और उसके सिर पर पैर रख कर मचमचाने लगी।

उस दिन से बिजली राजा साहब की पटरानी नहीं तो चहेती अवश्य हो गई। रोट और गुड़ की कौन कहे; जब वह शिकार से लौटती तो जलेबियों के ढेर लग जाते। दूसरे-चौथे राजा साहब खुद आकर उसकी मिजाज-पुर्सी किया करते। परन्तु इतना सब होते हुए भी बिजली का जी अपने राज्य के लिये व्याकुल रहता। दूसरों की कृपा प्राप्त करना उसका शेवा नहीं था। वह रानी थी। दूसरों पर कृपा करना ही उसका शेवा था।

(७)

एक दिन चराते-फिराते महावत उसे घाटी पर ले गया। उधर से मोती भी आ पहुँचा। दोनों महावत उतर कर चिलम तमाखू पीने लगे। बहुत दिनों के बाद बिजली ने मोती से हँस कर बातचीत की। मोती ने सोचा—"अब राँड़ में कुछ सभ्यता आई है।" मोती घाट पर खड़े हो बिजली को पत्ती तोड़ कर देने लगा। बिजली ने देखा यह समय है। उसने खेल ही खेल में सिर भिड़ा दिया और लगी मोती को पीछे धकियाने। जब मोती बिलकुल किनारे जा लगा, तब उसने कहा—"बस, बस, अब पीछे खाँई है।" बिजली ने कहा—"इसी खाँई में ढकेल कर तुझे धूर्तता की सजा दूँगी रे दुष्ट!" मोती "अरे, अरे" कहता रह गया और बिजली ने उसे सौ फुट नीचे ढकेल ही

दिया । अब भी वह जगह मोती की कब्र के नाम से प्रसिद्ध है। वह महावतों की ओर मुड़ी। रंग ढंग देख कर वे लोग झाड़ पर जा चढ़े थे। बिजली ने उनकी ओर देख कर कहा—"दो पैर के लीद उठाने वाले, दुर्बल जीव ! जाओ; तुम्हें छोड़े देती हूँ।" यह कह कर उसने जंगल का रस्ता लिया।

इस समय बिजली के हर्षोल्लास का पारावार नहीं था। एक अर्से के बाद अपने शत्रु को मार कर दूसरे के राज्य में ख्याति प्राप्त करके लौट रही थी। इस बीच में उस पर कैसे-कैसे जुल्म हो चुके थे उसने सोचा—"कुछ हर्ज नहीं। अनुभव से ही योग्यता आती है। पहले मुझमें शक्ति थी परन्तु ज्ञान नहीं था। अब वह कमी भी दूर हो गई। पहले मैं अधूरी रानी थी, अब पूरी रानी हूँ।"

जैसे-जैसे घर पास आने लगा, बिजली की उतावली बढ़ने लगी। कितनी परेशान हुई होगी उसकी प्रजा। कितना ढूँढा होगा, कितना वियोग मनाया होगा ! उसका हृदय उमँगें ले रहा था। कैसे राज्य में पहुँचूँ ? कैसे संगी-साथियों से अपना सब हाल कह डालूँ ? चाल की तेजी से जमीन हिलने लगी। दूर ही से उसने अपने गिरोह को देखा। अपने आप एक हर्षपूर्ण किलकारी निकल पड़ी। बिजली की तूफानी चाल से गिरोह को पहले ही कुछ अनहोनी का पता चल गया था। वह आक्रमण या बचाव के लिए तैयार खड़ा था। किलकारी से बिजली को पहचान गया। कुछ लोग स्वागत के लिये बढ़े परन्तु सेनापति ने डाँट कर कहा—"ठहरो !"

बिजली ने पहुँचते ही कहा—"अरे, पहचानते नहीं, मैं तो हूँ—बिजली—तुम्हारी रानी !"

सब लोग सेनापति का मुँह देखने लगे। उसने एक तीक्ष्ण निगाह बिजली पर डाली। उस एक निगाह से उसे अनेक बातों का पता चल गया। उसने दाँत पीस कर कहा—"कुलटा! कलंकिनी! रानी बनने आई है—जा उसी मोती खसम के पास। यदि एक भी कदम आगे बढ़ाया तो इस बेशर्म जिन्दगी से हाथ धोना पड़ेगा।"

बिजली पर मानों घड़ों पानी पड़ गया। उसने कहा—"क्या बकते हो सेनापति? जिस मोती का ताना देते हो अभी-अभी मौत के घाट उतारे चली आ रही हूँ, समझे!"

सेनापति—"क्यों! क्यों? वह तो बड़ा सभ्य था, बहादुर था, राजा था। यहाँ काला मुँह ले कर आई है राज्य करने, उसी के साथ सती क्यों नहीं हो गई?"

अब बिजली तमतमा उठी उसने दूसरों की ओर देखकर कहा—"खड़े क्या हो रे कायरो! लाज नहीं आती तुम्हें अपनी रानी का अपमान कराते? फोड़ दो इस दुष्ट का सिर!"

एक बूढ़े मुसाहिब ने हँस कर कहा—"कौन रानी और कहाँ की रानी? जो गैरों के सामने हमारा अपमान करे और कराये, जो परम्परा को लात मार कर भाग जाय, जिसके माथे पर कलंक का टीका लगा हो क्या वह हमारी रानी हो सकती है? जा, चुड़ेल! जा! आज हम लोग परतंत्र बिजली की नहीं —स्वतंत्र सेनापति की प्रजा हैं।"

यह सुनकर बिजली पिल पड़ी। बुड्ढे के सिर पर उसने धम्म से दिया। उसे तो दुनिया लाल-पीली दिखने लगी, परन्तु आजू बाजू और पीछे से उस पर इतने प्रहार हुए कि उसे डर लगा कि कहीं......।

अभी वह अन्तिम युद्ध के लिए तैयार नहीं थी। एक ओर खड़े हो कर उसने लम्बी साँस ली और कहा—"जाओ रे अत्याचारियो ! तुम्हें भगवान् देखेगा।"

अब बिजली न घर की थी न घाट की। जिस ओर रास्ता मिला चलती हुई। कभी आबादी और कभी वीराने में गुजर होने लगी।

(८)

पहुँचते पहुँचते फिर राजा साहब के पास खबर पहुँची। वे तो स्वयं बिजली के लिए व्याकुल थे। मोती के मरने का उन्हें उतना दुःख नहीं था, जितना बिजली के भाग जाने का। इधर महावत ने समझा दिया था कि बिजली के मिलने से मोती की कमी की पूर्ति हो सकती है। प्यादे अहलकारे सुराग लगा ही रहे थे। गरज यह कि बिजली फिर एक बार राज-दर्बार में हाजिर की गई और इसके थोड़े ही दिनों बाद छोटे मोती का जन्म हुआ।

बिजली के हृदय में घोर प्रतिहिंसा की आग धधक रही थी। छोटा मोती उसे अपनी ओर खींचता और अपमान का प्रतिकार अपनी ओर। जब तक माता की ममता का खिंचाव रहता, तब तक बिजली सीधी तरह रहती, महावत का कहना मानती। राजा साहब को शिकार खिलाती परन्तु जैसे ही उसे अपमान की याद आती कि वह पागल हो उठती थी। उसके पागल होते ही घर-घर के दर्वाजे बन्द हो जाते थे। दफ्तर, अदालत यहाँ तक की डाक का बाँटना भी बन्द हो जाता। पुरुषों के हृदय में आतंक छा जाता, स्त्रियाँ उसकी भयानक चीत्कार से थरथरा जातीं और बच्चे नींद से चौंक-चौंक उठते थे। जब बिजली पागल होती, दो एक आदमियों का खून अवश्य

करती। जिन खेतों में पिल पड़ती उन्हें चौपट कर देती, घरों के छप्पर खींच लेती और दीवारें ढहा देती। उसके पागलपन की हालत में प्रत्येक नगर निवासी को जीने और मरने की बराबर-बराबर सम्भावना रहा करती थी।

यह मनगढ़न्त बात नहीं है। मैंने पागल बिजली को देखा है, उस समय मैं पहली या दूसरी हिन्दी में पढ़ता था। स्कूल बन्द होने के पहले ही छुट्टी लेकर घर जा रहा था। रास्ते में मेरा एक साथी मिला। उसने घबराई हुई आवाज में कहा—"चलो-चलो-भाग चलो, बिजली पगला गई है।" आपस में छकाने का यह साधारण तरीका था। मैंने उसकी बात पर कुछ ध्यान न दिया। थोड़ी दूर जाने पर मैंने देखा—पूँछ उठाये, चीत्कार करते हुए, रुद्र, भयंकर, भीमकाय बिजली झपटी चली आ रही है। वहाँ कुछ सुनारों की दूकानें थीं। बिजली की आवाज सुनते ही फट-फट टट्टे के दर्वाजे बन्द हो गये। किसी को इतना भी खयाल न हुआ कि एक लड़के को भी अन्दर कर ले। बिजली में और मुझमें सौ गज से अधिक का फासला नहीं था। मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे किसी ने मुझे रेल की पटरी पर कस दिया हो और उधर से धकधकाती हुई गाड़ी छोड़ दी हो। बाँईं ओर एक गली दिखी। आँख बन्द करके मैं पटरी छोड़कर गली में भागा। बिजली गाड़ी सीधी धकधकाती निकल गई। गली के दूसरे छोर में मेरे एक मित्र का घर था। मैं उसमें घुस गया। छाती धड़क रही थी, जबान बन्द हो गई थी, हिचकी बँधी हुई थी। मेरे मित्र की माँ ने दिलासा दिया। मैं रोते-रोते सो गया; फिर न जाने कब और किस प्रकार अपने घर पहुँचा।

उस रोज से बिजली को मैं अपनी स्मृति से पृथक् नहीं कर सका हूँ। उसके जीवन की एक-एक घटना मैंने बड़े परिश्रम से

एकत्रित की है। कुछ महावतों से, कुछ नगर-निवासियों से और कुछ थोड़ा सा अपनी समझ से मिलाकर आज सम्पूर्ण जीवनी आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ।

हाँ तो जैसे प्लेग के प्रकोप, पृथ्वी के कम्पन, ज्वालामुखी के फोटन या वायुयानों के बम्ब-करण से यहाँ-वहाँ आतंक फैल जाया करता है, उसी प्रकार बिजली के पागलपन से राजधानी में साल में दो एक बार तहलका मच जाया करता था। आप कहेंगे कि ऐसी सत्यानाशी को तो तोप के मुँह पर रखकर उड़ा देना चाहिये। पर आप राजा तो नहीं हैं—हाथी की कदर क्या जानें? बिजली में जो खूबियाँ थीं उनकी हमको आपको तमीज नहीं हो सकती। आप कटोरे में पानी भरे हुए बिजली की पीठ पर दस बीस मील चले जाइये, पानी हिलगा तक नहीं। नदी दोनों पाट लबालब चली जा रही हो, बिजली उसे तीर की तरह पार कर जायगी। वह बिजली ही की छाती थी कि तीन मन के हौदे पर राजा साहब और उनके चँवर-बर्दारों को बैठा कर दशहरे में इस तरह निकलती थी जैसे राजा रामचन्द्र की सवारी। और शिकार? क्या कहना है! बिजली पर बैठकर माँद से शेर मार लाना कोई बात ही नहीं थी। अड़ोस-पड़ोस के राजा तक बिजली पर निछावर थे, राजधानी में किसके कंधे पर दो सिर थे जो बिजली को मारने की सोचता? बिजली राज्य की शोभा थी। उसके लिये साल में दो चार खून माफ थे।

दो-चार रोज तो बिजली राजधानी और उसके आस-पास अपनी रक्त-पिपासा बुझाती और उसके बाद जंगल में घुस जाती। महीना-पन्द्रह दिन में छोटा-मोती, महावत बल्लमदार, भालेदार इत्यादि उसकी तलाश में भेजे जाते और काफी परेशानी के बाद

फिर से बिजली रानी नगर में प्रवेश करतीं। उनका शरीर घावों से छिन्न भिन्न होता, परन्तु भालों की चोटों से सिरों की टक्करों के घाव ही अधिक होते थे। इन टक्करों में सेनापति के कितने मुसाहिबों की मृत्यु का इतिहास छिपा रहता था, यह भगवान् ही जाने।

—:o:—

(१३)

भाई-बहन

[सत्यवती मलिक]

"माजी ! .....हाय ! माजी !......हाय !" एक बार, दो बार पर तीसरी बार 'हाय ! हाय !' की करुण पुकार सावित्री सहन न कर सकी। कारबन-पेपर और डिजाइन की कापी वहीं टेबिल पर पटक कर शीघ्र ही उसने बाथ-रूम के दरवाजे के बाहर खड़े कमल को गोद में उठा लिया और पुचकारते हुए कहा, "बच्चे, सबेरे सबेरे नहीं रोते।"

"तो निर्मला मेरा गाना क्यों गाती है, और उसने मेरी सारी कमीज क्यों छींटे डाल कर गीली कर दी है ?"

स्नानागार में अभी तक पतली-सी आवाज में निर्मला गुनगुना रही थी, "एक......लड़का......था... .वह रोता ... रहता..."

"बड़ी दुष्ट लड़की है। नहाकर बाहर निकले तो सही, ऐसा पीटूँ कि वह भी जाने।" माँ से यह आश्वासन पाकर कमल कपड़े बदलने चला गया।

न जाने कितनी मंगल कामनाओं, भावनाओं और आशीर्वादों को लेकर सावित्री ने अपने भाई के जन्म-दिन पर

उपहार भेजने के लिए एक श्वेत रेशमी कपड़े पर तितली का सुन्दर चित्र खींचा है। हल्के नीले, सुनहरे और गहरे लाल रंग के रेशम के तारों के साथ ही साथ जाने कितनी ही मीठी स्मृतियाँ भी उसके अन्तस्तल में उठ उठकर बिधी-सी जा रही हैं, और अनेक वन, पर्वत, नदी, नाले तथा मैदान के पार दूर से एक मुखाकृति बार-बार नेत्रों के सम्मुख आकर उसके रोम-रोम को पुलकित कर रही है। कभी ऐसा भी लगने लगता है, मानो सामने दीवार पर लटकी हुई नरेन्द्र की तस्वीर हँसकर बोल उठेगी। सावित्री की आँखों में प्रेमाश्रु छलक उठे। तितली का एक पंख काढ़ा जा चुका है; किन्तु दूसरा आरम्भ करने से पूर्व ही कमल की सिसकियों और आँसुओं ने सावित्री को वहाँ से उठने को विवश कर दिया।

स्कूल की चीजों को बेग में डालते हुए निर्मला के निकट खड़े होकर सावित्री ने कड़क कर कहा, "निर्मला, तुझे शर्म नहीं आती क्या? इतनी बड़ी हो गई है! कमल तुझसे पूरे चार वर्ष छोटा है। किसी चीज को उसे छूने तक नहीं देती। हर घड़ी वह बेचारा रोता रहता है। अगर उसने तेरे पेन्सिल बक्स को तनिक देख लिया, तो क्या हुआ?'

निर्मला सिर नीचा किए मुसकरा रही थी। यह देखकर सावित्री का पारा और भी चढ़ गया। उसने ऊँचे स्वर में कहना शुरू किया, "रानी जी बड़े होने पर पता चलेगा जब इन्हीं दुर्लभ सूरतों को देखने के लिए भी तरसोगी। भाई-बहन सदा साथ-साथ नहीं रहते।"

माँ की झिड़कियों ने बालिका के नन्हें मस्तिष्क को एक उलझन में डाल दिया। आश्चर्यान्वित हो वह केवल माँ के क्रुद्ध

चेहरे की ओर एक स्थिर, गम्भीर, कुतूहलपूर्ण दृष्टि डाल कर रह गई।

करीब आध घंटा बाद किंचित् उदास-सा मुख लिए निर्मला जब कमल को साथ लेकर स्कूल चली गई, तब सावित्री को अपनी सारी वक्तृता सारहीन प्रतीत होने लगी। सहसा उसे याद आने लगी कुछ वर्ष पूर्व की एक बात। तब वह नरेन्द्र से क्यों रूठ गई ? छिः ! एक तुच्छ-सी बात ....,किन्तु आज जो बात तुच्छ जान पड़ती है, उन दिनों उसी तुच्छ निकृष्ट, जरा-सी बात ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया था, जिसके कारण भाई-बहिन ने आपस में पूरे एक महीने तक एक बात भी न की थी। एकाएक सावित्री के चेहरे पर हँसी प्रस्फुटित हो उठी, जब उसे स्मरण हो आया नरेन्द्र का दिन-रात नये-नये रिकार्ड लाकर ग्रामोफोन पर बजाना और एक दोस्त से दूरबीन माँगकर आते-जाते बहन के कमरे की ओर झाँकना कि किसी तरह इन दोनों चीजों का प्रभाव सावित्री पर पड़ रहा है या नहीं ! उसे यह भी याद करके खूब हँसी आई कि कैसे वह मौन धारण किए हुए मिठाई की तश्तरी नरेन्द्र के कमरे में रख आती थी।

× × ×

टेबिल क्लाथ पुनः हाथ में लेकर काढ़ते हुए सावित्री ने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि अब से वह बच्चों को बिल्कुल डाँट-फटकार नहीं बतायेगी; किन्तु इधर बारह बजे की आधी छुट्टी में खाने के समय फिर कई अभियोग कमल की ओर से मौजूद थे—"निर्मला मुझे अपने साथ-साथ नहीं चलने देती; पीछे छोड़ आती है। "मन्दाकिनीर पूर्ण धारायें" के बदले "कमल कि नीर पूर्ण धारायें" गाना गाती है और गधा कहती है।

मामला कुछ गम्भीर न था और दिन होता, तो शायद निर्मला की इन शरारतों को सावित्री हँसी समझ कर टाल देती; परन्तु वह उद्दण्ड लड़की सबेरे से ही उसके प्रिय तथा आवश्यक कार्य में बार-बार बाधा डाल रही है! एक हल्की चपत निर्मला के लगाते हुए मा ने डाँटकर कहा, "बस, कल ही स्कूल से तेरा नाम कटवा दिया जायगा। यह सब अँग्रेजी स्कूल की शिक्षा का ही नतीजा है। जरा सी लड़की ने घर-भर में आफत मचा रखी है। अभी से भाई-बहनों की शक्ल-सूरत नहीं भाती, बड़ी होने पर जाने क्या क्या करेगी। फिर थाली में पूरी तरकारी डालकर बच्चों के आगे रखते हुए जरा धीमे स्वर में कहा, "देखो निर्मला, जब मैं तुम्हारे बराबर की थी, तो अपने भाई बहनों को कभी तंग नहीं करती थी, कभी अपने माता-पिता को दुःख नहीं देती थी।" किन्तु यह बात कहते हुए भीतर ही भीतर सावित्री को कुछ झिझक-सी हो आई।

× × ×

"हम दोनों सीता के घर से जुलूस देखेंगे माँ, अच्छा।" कमल ने विनम्र स्वर में अनुमति चाही।

"नहीं जी, क्या अपने घर से दिखाई नहीं पड़ता!" दरवाजे की ओट में निर्मला खड़ी थी। "कैसी चालाक लड़की है—इसी गरीब को आगे करती है, जब खुद कुछ कहना होता है। जाओ, जाना हो तो।" सावित्री ने झुंझला कर उत्तर दिया।

पाँच बजे मुहर्रम का जुलूस निकलने वाला था। पल भर में चौराहे पर सैकड़ों मनुष्यों की भीड़ इकट्ठी हो गई। सावित्री का ध्यान कभी काले हरे रंग-विरंगे वस्त्र पहिने जन-समूह की ओर और कभी जुलूस के कारण रुकी हुई मोटर गाड़ियों में बैठे हुए

व्यक्तियों की ओर अनायास ही खिंच रहा था। और इधर बालिका निर्मला के होश-हवास एकाएक गुम-से हो गये जब उसे सारे घर में कमल की परछाईं तक नजर न आईं। व्याकुल-सी हो वह एक कमरे से दूसरे में और फिर बरामदे में पंखहीन पक्षी की नाईं फड़फड़ाती हुई दौड़ने लगी। उसकी आँखों के आगे अँधेरा-सा छा गया उसे सब कुछ सुनसान-सा प्रतीत होने लगा। वह माँ से कई बार छोटे बच्चों के भीड़-भाड़ में खो जाने का हाल सुन चुकी है। आह . ...उसका भैया..... कमल......वह क्या करे ?

नीचे सड़क पर भाँति भाँत के रंग-विरंगे खिलौने, नये-नये ढंग के गुब्बारे, कागज के पंखे, पतंग और भिन्न-भिन्न प्रकार के सुर निकलते हुए बाजे लाकर बेचने वालों ने बाल-जगत् के प्रति एक सम्मोहन-जाल सा बिछा रखा है। कुछ दूर से मानों नेपथ्य में से ढमाढम ढोल-बाजों की ध्वनि बढ़ती आ रही है। निर्मला इन सब चित्ताकर्षक चीजों को बिना देखे-सुने ही भीड़-भाड़ को चीरती हुई वेगपूर्वक भागती-भागती सीता के घर भी हो आई; पर कमल तो वहाँ भी नहीं है। रोते-रोते निर्मला की आँखें सूज आईं; चेहरे का रंग सफेद पड़ गया। आखिर वह हिचकियाँ लेते हुए, रुँधे गले से माँ के पास जाकर बोली, "कमल...... कमल तो सीता के घर भी नहीं है !"

सावित्री का तन-बदन एक बार सहसा काँप उठा। क्षणभर में भीड़, मोटर और गाड़ियों के भय से कई अनिष्ट आशंकायें उसकी आँखों के आगे घूम-सी गईं; किन्तु वह अपने भीरु लड़के की नस-नस से परिचित थी। उसे पूरा विश्वास था कि कमल जरूर ही कहीं न कहीं किसी दूकान पर खड़ा होकर अथवा किसी नौकर के साथ जुलूस देख रहा होगा; फिर भी

उसने फूट-फूट कर रोती हुई निर्मला को हृदय से नहीं लगाया और न उसे धीरज ही बँधाया, बल्कि आश्चर्य चकित सी हो आश्वासन का एक शब्द तक कहे बिना मानों वह अपनी लड़की की रुलाई को समझने का प्रयत्न कर रही थी। रह-रह कर एक सन्देह-सा उसके मन में उठने लगा, 'मुझसे भी अधिक—भला माँ के दिल से भी ज्यादा—किसी और को दर्द-चिन्ता हो सकती है ? और यह निर्मला तो दिन-रात कमल को सताया करती है !'

जुलूस समाप्त हो गया। क्रमशः दर्शकों के झुंड भी छिन्न-भिन्न होने लगे। मोटर गाड़ियों का धड़ाधड़ आना जाना पूर्ववत् जारी हो गया। और सामने ही फुटपाथ पर निकर और सफेद कमीज पहने पड़ोसी डाक्टर साहब के नौकर के हाथ में हाथ लटकाये कमल किशोर घर आता हुआ दिखाई दिया।

× × ×

सीढ़ियों में से फिर सिसकने की आवाज सुनकर सावित्री ने देखा तो मन्त्र मुग्ध सी रह गई। कमल को दृढ़-पाश में बाँधे निर्मला दुगुने वेग से रो रही है। उसके कोमल गुलाबी गाल मोटे-मोटे आँसुओं से भीगे जा रहे हैं और वह बार बार कमल का मुख चूम कर कह रही है "पगले ! तू कहाँ चला गया था ? गधे तू क्यों चला गया था ?"

सावित्री का हृदय उमड़ आया। पुनीत प्रेम के इस दृश्य को देखकर एक आनन्द की धारा-सी उसके अन्तस्तल में बहने लगी। झरते हुए आँसुओं के साथ उसने कमल की जगह निर्मला को छाती से लगाकर उसका मुँह चूम लिया और

कहा, "बेटा, बहन को प्यार करो। देखो यह तुम्हारी खातिर कितना रोई है। तुम बिना कहे क्यों चले जाते हो?"

निर्मला का इतना आदर होते देख कमल बोल उठा "तो क्या मैं वहाँ नहीं रोया था?"

"तुम क्यों रोये थे जी?"—माँ ने कुतूहलवश पूछा।

"मुझे गुब्बारा लेना था, पैसा नहीं था।"

निर्मला ने दौड़कर अपनी जमा की हुई चवन्नी के पैसों से दो गुब्बारे और दो कागज के खिलौने कमल को लाकर दिये और एक बार फिर उसे भुजाओं में जकड़ कर कहा, "गधे! तू चला क्यों गया था?"

—:०:—

(१४)

कहीं धूप कहीं छाया

[रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी]

बाबू साहब की बेटी की शादी है। उनके घर की सरगर्मी का क्या कहना है? किन्तु उससे भी ज्यादा सरगर्मी समूचे गाँव में है। गाँव ही क्यों, उनकी जमींदारी-भर के गाँवों में एक हलचल-सी दीख पड़ती है।

बढ़ई बुलाये गये, और उन्हें आज्ञा हुई कि इतने पलंग, इतनी कुर्सियाँ, इतनी बेंचें आदि तैयार करो; पुराने फर्नीचर की मरम्मत अलग। कुम्हारों को हुक्म मिला कि इतनी हाँड़ियाँ, इतने घड़े, इतनी तश्तरियाँ और इतने आबखोरे बनाकर ड्योढ़ी पर हाजिर करो। छोटी जातियों के अछूत लोगों के दरवाजे पर धान के बोरे 'चिउड़ा' कूटने के लिए रखवा दिये गये; अछूत भी न बचे, दाल और आटे के लिए अरहर और गेहूँ के बोरे उनके आँगनों में फेंकवा दिये गये। तम्बोली से पान की और तेली से तेल की फरमाइश हुई। लोहार से तम्बू शामियाने के लिए खूँटे और मोखियाँ तैयार करने तथा जलाने के लिए प्रचुर परिमाण में चैला चीरने की ताकीद कर दी गई। राज को बुलाकर ड्योढ़ी की दीवारों की मरम्मत और

उन पर सफेदी करने का आदेश हुआ। ग्वालों तथा गाय-भैंस पालने वाले दूसरे लोगों पर दही और घी के लिए फरमान निकले। इस तरह, जो जिस योग्य था, उसके सिर पर वैसा बोझ लादा गया—किन्तु लादा गया सब के सिर पर कुछ न कुछ जरूर। बाबू की बेटी का ब्याह है या ठट्ठा ?

फिर गाँवों की सरगर्मी और हलचल का क्या पूछना ?

एक पहर रात से ही मूसलों की धम्म-धम्म और चक्कियों की घर्र घर्र—जिनमें कभी-कभी काँच की चूड़ियों की खन्-खन् और काँसे के कड़ों की टन्-टन् भी मिली होती थी—से सारा गाँव मुखरित हो उठता। कुम्हार की चाक अविरल गति से नृत्य करती, जिस पर उसकी थाप अपने थप-थप् शब्द से ताल सी देती रहती। बढ़ई के बसूले की खट्-खट् और लोहार की कुल्हाड़ी के ठायँ-ठायँ की कर्णकटुता को तेली के कोल्हू का चर्र-चों और ग्वाले के मटके का घर्र-घों बहुत अंशों में स्निग्ध और मधुर बनाने की चेष्टा करता। बाबू साहब की ड्योढ़ी से सटे, एक कमरे में दर्जी की सिंगर-मेशीन हरहराती रहती; दूसरी तरफ सोनार की हथौड़ी-छेनी खुट्-खुट् करती हुई सोने और चाँदी की निर्जीवता में सजीव चित्रण करने का प्रयत्न करती। राज की कन्नी भी खरखराती ही रहती। कहाँ तक गिनाया जाय, सारे गाँव का वायुमंडल नाना प्रकार के शब्दों से आन्दोलित और प्रकम्पित रहता।

कोई दौड़ा हुआ तम्बू और शामियाने की मँगनी को जा रहा है, तो कोई कहीं से इत्रदान और गुलाबपाश के गंगा-जमुनी जोड़े ला रहा है। बाजे वाले और नाचवालियाँ, रोशनी और आतिशबाजी वाले—सबको साइयाँ दी जा रही हैं।

पुराने तालाबों की मरम्मत हो रही है; कुओं की कीचड़ निकाली जा रही है; टूटी सड़कें दुरुस्त की जा रही हैं; बागों के गड्ढे-खड्ढे भरभराकर, घास-फूस छील छालकर, उन्हें साफ-सुथरा बनाया जा रहा है। क्यों न हो? इतनी बड़ी बारात आने वाली है, उसके आराम चैन के लिए इतना भी न किया जाय?

बाबू साहब के घर में भी सरगर्मी है—बाबू साहब बारात के ठहराने, खिलाने-पिलाने, दहेज देने आदि की स्कीमें बनाने में तल्लीन हैं; उनकी श्रीमतीजी अपने दामाद को नाना तरह के उपहार और अपनी बेटी को अच्छी विदाई देने का प्रबन्ध कर रही हैं, उनकी पतोहू अपने नन्दोई के सामने किस रूप रंग में आयगी, इसकी विवेचना गौर से कर रही है; उनकी छोटी बेटी चुहल और दिल्लगियाँ सोचने में लीन है, जिनके द्वारा वह अपने बहनोई को एकदम पराजित और लज्जित कर देगी; और, उनकी वह बेटी—भावी दुलहन-किस-किस चीज और विषय में, किस-किस स्वप्न और कल्पना में मस्त है, कैसे बताया जाय?

यों बाबू साहब के घर की सरगर्मी भी कुछ कम नहीं है; किन्तु उनके घर की सरगर्मी और इन गाँवों की सरगर्मी में कितना अन्तर है! ऊपर की सूरत-शकल मिलने पर भी अन्तर में—हृदय में—कितना भेद है। एक तरफ उल्लास है, आनन्द है, मनुहार है—दूसरी ओर लाचारी है, बेबसी है, बेगारी है।

(२)

मखना—मातृ-भक्त मखना—अपनी बीमार माँ के सिरहाने बैठा अनवरत पंखा झलता और जब तब माँ को उसकी अपनी करनी के लिए कोस रहा था कि किसी ने बाहर से पुकारा—

"मखना, ओ मखना, मखना रे—सुनता नहीं है; घर से बाहर आता है कि .."

मखना की माँ आज चार-पाँच दिनों से बीमार है। बीमार तो सभी पड़ते हैं, किन्तु इस बीमारी को मखना की समझ में, उसकी माँ ने स्वयं निमन्त्रण देकर बुलाया है, इसलिए सब सेवा करता हुआ भी वह झल्लाया हुआ था।

लगभग दो सप्ताह पहले की बात है। उस दिन उसमें और उसकी पत्नी में कुछ कहा-सुनी हो गई थी, इसी माँ को लेकर। स्त्री के मुँह से उसकी माँ के प्रति एक फूहड़ शब्द निकल गया। मातृ-भक्त मखना का क्रोध सातवें आसमान पर चढ़ गया। झोंटे में हाथ लगा, खींचकर उसे घर से निकाल बाहर किया, और एक धौल उसकी गर्दन पर जमाकर कहा—"आज से मेरे घर में पैर रखे, तो जानेगी—जा अपने बाप के घर! बदमाश कहीं की!"

मखना अपनी पत्नी को बहुत प्यार करता था—बहुत ही ज्यादा। इस प्यार ने उसमें थोड़ा मान का भाव दिया था—ऐसा होता ही है। अपने मान पर पहले पहल ऐसा आकस्मिक आघात होते देख वह आपे से बाहर हो गई, और सचमुच अपने मैके को चल दी।

माँ ने मखना को बहुत समझाया; किन्तु वह अपनी पत्नी को क्षमा न कर सका। वह भी चुप रही—अपने इस इकलौते बेटे का मिजाज वह जानती थी। क्रोध आने पर वह किसी का सुनने वाला नहीं। माँ ने सोचा, क्या हुआ, दो-चार दिन में क्रोध शान्त हो जायगा, तब फिर ससुराल जाकर वह बहू को बुला लायगा; अभी चुप्पी में ही खैर है।

इसके दूसरे ही दिन बाबू साहब का सिपाही एक मजदूर के सिर पर एक बोरा धान लिए पहुँचा और फरमान सुनाया कि आठ दिन के अन्दर इसका चिउड़ा कूटकर ड्योढ़ी पर पहुँचाना होगा। डेढ़ मन धान है, एक मन चिउड़ा होना चाहिये, तौल में कमी हुई, तो खैर नहीं; चिउड़ा पतला हो; कन-भूसा जरा भी रहेगा, तो अच्छा न होगा। इतना कह, बोरा पटकवा, सिपाही चलता बना। वह कुछ सुनने-सुनाने को राजी न था—मालिक की ऐसी ही मर्जी थी।

मखना भी बड़ा जीवट का आदमी था। पुष्ट शरीर पर कुश्ती ने और भी मद लाद दिया था। वह डेढ़ मन के बोरे को अकेले सिर पर रख बाबू की ड्योढ़ी की ओर चल पड़ा।

"अन्धेर है—दिन-भर बेगारी करते-करते मरा जा रहा हूँ; न खाना, न दाना; आज यहाँ जाओ, कल वहाँ जाओ; आज यह करो, कल वह करो। बाप रे, गाँव-भर परेशान है। यह शादी क्या हुई, हम लोगों की जान साँसत में आ गई। अब यह चिउड़ा!—मेरी स्त्री नैहर चली गई, माँ बुढ़ी और बीमार है, कौन कूटेगा?—उहुँक, यह न होगा; अपनी माँ के गले में खुद फाँसी न लगाऊँगा, न लगने दूँगा; नहीं, नहीं, मुझी को मार डालें! यह उनकी बेटी है कि मेरा काल। एक दिन तो मरना ही है—इसी यज्ञ में सही......"

यों हीं मन-ही-मन बरबराता जा रहा था कि पीछे से माँ ने आकर उसके पैर पकड़ लिये। वह जानती थी कि इस धान के लौटाने का क्या नतीजा होगा?—आज ही बेटे से उसको हाथ धोना पड़ेगा! मातृ-ममता उमड़ चली। आँगन से दौड़ी और आकर बेटे का पैर पकड़ बैठी।

माँ को इस प्रकार पैर पकड़ते देख वह सन्न हो गया। कुछ देर तक पत्थर की मूर्ति-सा अचल खड़ा रहा। फिर बोला—"तू क्या करती है, पगली! मुझे जाने दे; मुझसे जितना बेगार करावें, मैं तुझे मरने न दूँगा।"

"इसमें मरना कहाँ है बेटा? बस, एक मन तो कूटना है। एक पसेरी भी कर लूँगी, तो आठ दिन में खतम।"

"बड़ी खतम करने वाली बनी है। एक वक्त रसोई बनानी पड़ती है, सो तो दम फूलता है, चिल्लाने लगती है कि बहू को बुला ला, बहू को बुला ला; और इन्हीं से चिउड़ा कूटा जायगा? नहीं, मैं बिना लौटाये नहीं छोड़ूँगा—जमीदार हैं, तो अपने घर के; बेगार लेंगे, या खाल खींचेंगे······"

बुढ़िया ने ठुड्डी पकड़ ली—"ऐसा न करो बेटा! बाबू की बेटी तो मेरी भी बेटी ठहरी; क्या अपनी बेटी के ब्याह में मैं इतना भी न कर सकूँगी? मुनिया के ब्याह में तो अकेले ढाई मन चिउड़ा मैंने कूट लिया था। उस समय कहाँ थी तुम्हारी बहू? जैसी मुनिया मेरी बेटी, वैसी बाबू की बेटी भी मेरी बेटी। मुनिया तो पाप की बेटी थी, यह धर्म की बेटी है। चल, मेरे लल्ला, लौट···", आदि नाना प्रकार के तर्क-वितर्क और आरजू-मिन्नत के द्वारा वह मखना को लौटा लाई।

किन्तु लौटा लाना जितना आसान था, धान का चिउड़ा बनाना उतना आसान न था। तो भी लग पड़ी। ईंधन नहीं था, बगीचे से पत्ते बटोर लाई। कुम्हार से कह सुनकर एक खपड़ी माँग लाई। अब अकेले तारना, भाड़ना, घानी करना और कूटना। कभी चूल्हे-खपड़ी से झगड़ती, कभी ओखल-मूसल से युद्ध करती। बुढ़ापे का शरीर, थोड़ी ही देरमें

अँगुलियाँ ऐंठने लगतीं, हाथ झनझना उठते। किन्तु तो भी वह डटी रहती। बेगार से फुर्सत पा, जब कभी मखना घर आता, तो इस प्रकार हँसकर बतियाती, मानो, आसानी से सब काम सम्पन्न हो रहे हैं। मखना को भी अचरज होता। खैर, किसी प्रकार अपने पर अत्याचार कर और मखना को धोखे में रख उसने चिउड़ा तैयार कर दिया। मखना भी उसे ड्योढ़ी पर तौलवा कर कुछ निश्चिन्त-सा हुआ।

किन्तु मखना की माँ अपने बेटे को धोखे में डालकर भी प्रकृति को धोखा न दे सकी। अब प्रकृति ने अपने नियम के व्यतिक्रम का दंड चुकाना आरंभ किया। मखना की माँ बीमार पड़ी। चार पाँच दिनों से वह शय्या पर बेहोश-सी पड़ी थी। अंग-अंग टूट रहे थे, बुखार उतरने का नाम ही नहीं लेता था; किन्तु ज्यों ही आज थोड़ा बुखार घटा कि मखना को शान्त करने की कोशिश करने लगी। वह बताना चाहती थी कि बीमारी स्वभावतः हुई है, चिउड़ा कूटने के सबब से नहीं; किन्तु मखना को अब धोखे में नहीं डाला जा सकता था। झल्ला-झल्लाकर माँ को कोसता; कहता—"कर अब बेटी का ब्याह! कहाँ है बेटी? क्यों नहीं आकर दवा-दारू करती? धर्म की बेटी! बड़ी बेटी कहीं की। धनी की बेटी गरीबों की मौत होती है! वह बिना खाये तुझे न छोड़ेगी—हाँ! तू भी मरेगी, मैं भी मरूँगा मैं तुझे अकेले मरने न दूँगा। समझी?—मर तो..."

इसी प्रकार की झल्लाहट के बीच मखना के कानों में उपर्युक्त पुकार की आवाज पहुँची। बोली से ही वह पहचान गया कि बाबू साहब का सिपाही है। ऐसे श्रुति-मधुर शब्द दूसरे किसके मुँह से निकल सकते थे? भर्राई हुई आवाज

में इसने भी जवाब दिया—"मैं नहीं जाता; मेरी माँ बीमार है……"

"तुम्हारी माँ बीमार है, तो क्या इसलिए बाबू साहब की बेटी का ब्याह रुक जायगा ? चल, भरथुआ चौर से पुरइन के पत्ते लाना है; शाम तक लौट आयगा; चलता है……"

"नहीं चलता। बाबू साहब की बेटी का ब्याह नहीं रुकता, तो क्या मैं किसी की बेटी के लिए अपनी माँ को मार दूँ। जाओ, इसको दूसरा कोई देखने वाला नहीं है, मैं नहीं जाता……"

इस सूखे कथन को इस रूखे ढंग से कहा गया था कि सिपाही दाँत पीसता हुआ ड्योढ़ी की ओर चल पड़ा।

(२)

ड्योढ़ी पर आकर सिपाही ने एक की दस-बीस बनाकर सुनाई। मुंशी जी—बाबू साहब के कारबार का एकमात्र कर्ता-धर्ता मुंशी जी—क्रोध से आग-बबूला हो गए और "पाँच सिपाही जाकर, टाँग-टूँगकर उस हरामजादे को ले आओ" यह हुक्म निकालने वाले ही थे कि रामधनी मुखिया बीच में पड़ गये। उन्होंने मुंशी-जी को बहुत तरह से समझाया—"मखना अभी लड़का है, गदेल है; उसका बाप मनोहर ड्योढ़ी का वफादार असामी था, मखना भी सदा बेगार करता रहा है; सचमुच उसकी माँ बीमार हैं, तो भी उसने ऐसा नहीं कहा होगा; शायद सिपाही जी को सुनने में धोखा हुआ है; मैं अभी जाकर बुला लाता हूँ……"

रामधनी वृद्ध थे, गाँव के मुखिया थे; मुंशी जी ने उनकी बात मान ली। रामधनी अपनी लाठी टेकते मखना के घर

आये, बहुत समझाया। माँ ने भी आजिजी प्रकट की। खैर, मखना राजी हो गया, और ड्योढ़ी पर आया। रामधनी साथ थे। उन्होंने मखना को रास्ते में ही समझा दिया था कि तुम वहाँ कुछ नहीं बोलना; जो हुक्म हो, चुपचाप मान लेना। मखना भी यही निश्चय करके आया था; किन्तु यहाँ तो कुछ दूसरा ही होना था।

मुंशी जी के सामने एक हट्टा-कट्टा नौजवान खड़ा था। उसकी चौड़ी छाती, मांसल बाँहों और भरे चेहरे को देखकर मुंशी जी को आनन्द नहीं हुआ। जो एक धनी के लिए गुण है, गरीब के लिए घोर अवगुण। कौन नहीं जानता कि जब कहीं चोरी होती या डाके पड़ते हैं तो दारोगा जी आसपास के ऐसे नौजवानों को ही पहले पकड़ते हैं, जो गरीब होकर भी हट्टे-कट्टे होते हैं। मुंशी जी ने मखना को देखते ही समझ लिया कि यह जरूर बदमाश होगा! रुखाई से पूछा—हुँ, क्या तुम्हारा ही नाम मखना है?

मखना ने सिर हिलाकर जवाब दिया। मुंशी जी बोले—"अबे, बोलता क्यों नहीं, क्या गूँगा है? क्या सचमुच तूने कहा था कि मैं नहीं जाता?"

मखना ने स्वाभाविक स्वर में कहा...जी हाँ।

"जी-हाँ"—मुंशी जी का क्रोध ज्वालामुखी-सा एकाएक भड़क गया। बोलते गये—"जी हाँ कहता है? बदमाश, पाजी। क्यों तुमने ऐसा कहा?"

"सरकार मैया बीमार......"

"तेरी........"

बस, मुशीजी ने एक ही सांस में कितनी ही गालियों की

गोलियाँ दनादन बरसा दीं। मनुष्य की कौन बात, कोई भी ऐसा पशुप्राणी नहीं बचा, जिसके साथ उसकी माँ का सम्बन्ध न जोड़ा गया। मुंशी जी बकते चले जा रहे थे, इधर मखना अवाक् खड़ा था, वह सुनते ही सन्न हो गया। एक बुरा शब्द निकलने के कारण वह अपनी पत्नी—प्यारी पत्नी—को घसीट कर घर से निकाल चुका था। आज उसी माता की इज्जत यों सरेआम—इस भरी ड्योढ़ी पर—जहाँ गाँव-भर के लोग इकट्ठे हैं—लूटी जा रही है, लुटाई जा रही है। एक बार उसने रामधनी की ओर घूरकर देखा—मानो उसकी आँखें कह रही हों—रामधनी चाचा, तुम्हीं आज मेरी माँ की इज्जत लुटवा रहे हो। फिर उसने अपनी प्रज्ज्वलित आँखों को मुंशीजी की ओर करके कहा—"मुंशीजी, कहे देता हूँ, गालियाँ मत बकिये..."

"गालियाँ मत बकिये! बकूँगा, तो क्या होगा? बोल, बोल, बोल तेरी ..'

मखना के कानों ने सुना, उसकी माँ को न जाने क्या-क्या गन्दी गालियाँ दी जा रही हैं। उसका हृदय चलनी हो गया। उसके गरम मस्तिष्क से विचार-शक्ति भाफ बनकर उड़-सी गई। वह कहाँ है, यहाँ क्या हो सकता है—आदि बातों के सोचने की बुद्धि ही उसमें न रह गई। वह पागल-सा हो उठा! बिजली-सा कड़क कर बोला—" गालियाँ रोकिये; नहीं तो...

"नहीं तो—नहीं तो—नहीं तो क्या...क्या होगा बोल, पाजी, हरामजादा, सूअर का बच्चा......"

यह कहते हुए स्वयं बाबू साहब अपने कमरे से निकले। वह भीतर दालान के कमरे में थे; ओसारे पर मुंशीजी बैठे थे। मखना ओसारे के नीचे आंगन में खड़ा था। कमरे से निकलकर

बाज की तरह वह मखना की ओर झपटे। पैर में खड़ाऊँ थी। जाते ही उसे उतारकर उसके सिर पर तड़ातड़ मारने लगे।

बाबू साहब का आना और मारना पलक मारते हुआ। मखना नहीं जानता था कि बाबू साहब भीतर बैठे सब सुन रहे हैं। शायद रामधनी वगैरह भी नहीं जानते थे। बाबू साहब को देखते ही वह स्तम्भित-सा हो गया। यहाँ तक कि दो-तीन खड़ाऊँ खोपड़ी पर पड़ने पर भी वह अचल खड़ा था, किन्तु जब सिर से लहू की बूंदें टप-टप करके टपकने और उसके कपाल-गाल आदि को भिगोती हुई जमीन पर गिरने लगीं तब जैसे वह कुछ चंचल-सा हो उठा। बाबू साहब उसके एकदम निकट खड़े खड़ाऊँ मार रहे थे। इस बार ज्यों ही उन्होंने खड़ाऊँ उठाकर उसके सिर पर पटकनी चाही, त्योंही उसने उस प्रहार को रोकने की नीयत से अपनी बाँह उस ओर बढ़ा दी। खड़ाऊँ सिर तक नहीं पहुँची; किन्तु इस प्रकार रोकने से जो प्रतिघात हुआ, उसे बाबू साहब—दुर्बलकाय, क्षीण-शरीर बाबू साहब—नहीं बर्दास्त कर सके। वह ढिलमिला कर जमीन पर आ रहे। बाबू साहब को गिरते देख मखना भौंचक हो उठा। लपक कर उठाना ही चाहता था कि एक सिपाही ने उसके सिर पर एक जबरदस्त लाठी जमा दी।

फिर तो मारो-मारो का तुमुल-नाद होने लगा। दो तीन आदमी बाबू साहब को लेकर ओसारे पर बिठा आये—क्योंकि उन्हें चोट ओट तो आई नहीं थी सिर्फ कमजोरी के कारण जरा लुढ़क गये थे। बाकी लोग—सिपाही, नौकर, अमले, आदि—मखना पर प्रहार-पर-प्रहार करने लगे। लाठी, छड़ी, जूते, लात सब का विपुल प्रयोग किया जा रहा था।

लाठी-छड़ी-लात-जूते, इन सबका विपुल प्रयोग किया ही जा रहा था कि इतने में उन्हीं में से एक आदमी चिल्ला उठा—मर गया ! मर गया !! रामधनी अलग खड़े पागल से यह सब देख रहे थे "मर गया" यह आवाज़ सुनते ही दौड़े और मखना के शरीर पर लेट गये। इनके लेटने और 'कहीं मर न गया हो फिर तो कल से ही सुपरिडन्ट, निस्पिट्टर और दारोगा धावा बोल देंगे' इस आशंका के कारण भी यह प्रयोग प्रकरण जहाँ-का तहाँ रोक दिया गया।

मखना का क्षत-विक्षत शरीर निर्जीव-सा पड़ा है। उस जगह की जमीन खून से रंग गई है। खोपड़ी एक जगह फट गई है, जिससे रक्त का अविरल प्रवाह चल रहा है। नाक और मुँह से भी खून निकल रहा है। जहाँ एक मिनट पहले एक हट्टा-कट्टा नौजवान था, वहाँ अब मांस का एक लोथड़ा सा पड़ा है। रामधनी कभी उसकी नाक दबाते और कभी मुँह में पानी देने की चेष्टा करते हैं। बाबू साहब तो अपने कमरे में पलंग पर जा लेटे हैं; जहाँ उन पर पंखा झला जा रहा है, किन्तु मुंशी जी इस घटना के गुरुत्व को—'कहीं मर गया तो पुलिस के द्वारा कितनी परेशानियाँ उठानी पड़ेंगी, इस बात को—समझ कर वहाँ खड़े उसे होश में लाने के लिए नाना तरह के उपचार बता रहे हैं। जिन निर्दय हाथों ने निष्ठुर प्रहार किये थे, वे अब कृत्रिम उपचार में लगे हैं। शायद तड़पने का तमाशा देखने के लिए ?

(४)

चार दिनों से समूचे गाँव में धूमधड़क्का मचा हुआ है। बाबू साहब की बेटी के ब्याह की बारात आई है। ऐसी बारात इस जवार में कभी नहीं आई। गाँव के बुड्ढे, जवान

बच्चे स्त्रियाँ, लड़कियाँ—सब बारात देखने में मग्न हैं। दूर-दूर के गाँवों से भी लोग दर्शक-रूप में आते-जाते रहते हैं।

हाथी, घोड़े, मोटर, बग्घी आदि की क्या गिनती? नाच-गाना का बाजार दिनरात गरम रहता। रंडियाँ, कथक, लौंडे सदासर्वदा छुन-छनन्न् करते रहते। बहरूपिये, भांड, मसखरे दिनरात हँसाया करते। रात में थियेटर होता, आतशबाजियाँ छूटतीं; हाहा-हीही-हूहू से दिगन्त आन्दोलित रहता।

खाने पीने की भरपूर व्यवस्था है। चिउड़ा-दही की कौन बात? दिन रात गरमागरम पूड़ियाँ कचौड़ियाँ उड़ती रहतीं। नाना तरह की मिठाइयों की सुगन्ध से तमाशबीनों की नाक भरी रहती, खानेवालों की जीभ की हालत का क्या वर्णन किया जाय?

बाबू साहब की उमंग का क्या कहना? मुंशीजी के पैर तो जमीन पर पड़ते नहीं। यदि बाबू साहब इस महाभारत के दुर्योधन थे, तो मुंशीजी शकुनि! नौकर-चाकर सभी रंगीन कपड़े पहने उड़ते से दीख पड़ते।

बाबू साहब के महल में सौन्दर्य और संगीत की गंगा-जमुना तरंगें ले रही हैं। सास खुश हैं—योग्य दामाद पाकर; सरहज खुश हैं—सुघड़ ननदोई देख कर; सालियाँ व्यस्त हैं—रसिक बहनोई ले कर; दुलहिन मस्त है... ..

चारों ओर मस्ती, आनन्द, उन्माद, उल्लास का समुद्र लहरा रहा है।

किन्तु गाँव में एक ऐसा भी घर है जहाँ इस समय एक दूसरा ही समुद्र अपना तूफानी रूप दिखला रहा है—न जाने वह किसकी भरी नाव डुबायेगा!

मखना उस दिन मरा नहीं; किन्तु जी गया घुलघुल कर मरने के लिए। जब कुछ उपचार के बाद उसे होश आया, रामधनो उसे उठाकर उसके घर ले गया। निस्सन्देह चलते समय मुंशीजी ने चाँदी के कुछ चमचमाते टुकड़े रामधनी के हाथ में रख दिये कि इससे उसकी दवादारू करना, किन्तु रामधनी ने विनय-पूर्वक उसे अस्वीकार कर दिया। कहा—"सरकार, अभी मेरे पास कुछ पैसे हैं, जरूरत पड़ेगी, तो ड्योढ़ी पर हाजिर होऊँगा।" वे अनुभवी थे; जानते थे ये रुपये उदारतावश नहीं दिये जा रहे हैं, वरन् जिसमें किसी तरह पुलिस को खबर न लगे, इसके लिये यह घूस मिल रही है।

बेटे की यह हालत देखकर माँ की क्या हालत हुई होगी, कल्पना कीजिये! पहले तो वह चीख उठी। किन्तु तुरंत ही अपने को जब्त कर वह बेटे की सेवा-शुश्रूषा में लग गई। न मालूम उसकी बीमारी कहाँ चली गई? न जाने उसमें यह शक्ति कहाँ से आ गई?

गाँव के दो चार नवयुवकों ने थाने में खबर देने की चर्चा की, किन्तु बूढ़ों ने डाँट दिया। बाबू साहब से मुकदमे में कौन जीतेगा; फिर, मुकद्दमे के लिए रुपये भी तो चाहिए।

इस दुस्सम्वाद को सुनकर मखना की पत्नी भी आ गई है—ऐसा अवसर मान-मनौवल का नहीं होता। दोनों सास-पतोहू दिन रात परिचर्या में लगी हैं। रामधनी भी वहीं बैठे रहते हैं।

देहात में परिचर्या ही क्या? कुछ लोगों ने अस्पताल में ले जाने की बात चलाई, किन्तु इसकी खबर ज्यों ही ड्योढ़ी में पहुँची कि बाबू साहब ने खुद रामधनी को बुलाकर डाँट

दिया। अस्पताल में जाने से पुलिस पर भेद खुल जाने का डर था।

मखना की हालत दिन-दिन खराब होती गई।

वह दिनरात कराहता रहता। ज्यों ज्यों दिन बीतते गये, पीड़ा घुलती गई, कराहना बढ़ता गया। उसके अंग-अंग कचोटते रहते; रह-रहकर टीस उठती—मानों सैकड़ों सूइयाँ एक साथ चुभोई जा रही हैं। सदा बुखार—जोरों का बुखार—बना रहता। वह प्रायः बेहोश ही रहता। वह बेहोशी में अंटसंट बका करता—मैया... चिउड़ा... सिपाही... मुंशीजी... ...तेरी... बाबू साहब खड़ाऊँ...मारो मारो रामधनी चचा—बस इन्हीं कुछ शब्दों के इर्द-गिर्द उलटा सुलटा उसका बकना होता। कभी हँसता, कभी रोता, कभी उत्तेजित होकर खड़ा होने की कोशिश करता। तीनों प्राणी सम्हाल के रखते और रोते—पत्नी रोती, माँ रोती और रोते रामधनी चाचा।

किन्तु आज अकस्मात् मखना की हालत अच्छी देखी गई। न वैसी कराह है, न छटपटी। थोड़ी चेतनता के चिन्ह भी दीख पड़े। बुखार कुछ उतर गया था। रात उसे नींद भी आई। भोर में ज्यों ही उसने आँखें खोलीं, माँ ने उत्सुकता-पूर्वक हौले से पूछा—बेटा जी अच्छा है न?

मखना ने सिर हिलाकर हाँ की सूचना दी। माँ जैसे निहाल हो गई। आनन्द से उसकी आँखें चमकने लगीं—जिनके कोने पर पानी की कुछ बूँदें भी डबडबा आईं। फिर मखना ने जैसे कुछ बोलने का प्रयत्न किया—किन्तु बोल न सका। बेचैनी की एक रेखा-सी उसकी ललाट पर खिंच आई। माँ इसको ताड़ गई। कुछ पूछना ही चाहती थी कि मखना ने इशारे से पानी

पिला देने का भाव जतलाया। माँ ने अस्त व्यस्त होकर बहू से पानी लाने को कहा। बहू ने झटपट पीतल के कटोरे में औटा हुआ पानी लेकर सास के हाथ में दे दिया। माँ ने सोये-सोये ही पानी पिला देना चाहा। किन्तु मखना ने उठाकर पिलाने का संकेत किया। सास-बहू ने मिलकर यत्न से उठाया—रामधनी दिशा जंगल को गये थे। उठाकर ज्यों ही उसके मुँह से कटोरा लगाया कि मखना को जोर से एक हिचकी आई। एक दो तीन। तीसरी हिचकी के साथ-ही-साथ उसके मुँह से जमे हुए खून का एक लोंदा नीचे गिर गया। उस लोंदे को देखते ही सास-बहू अधीर हो गईं। माँ सिसकियाँ भरती हुई, 'बेटा-बेटा' कह ही रही थी, कि इधर बेटे की आँखें उलट गईं। वह लुढ़ककर उसकी गोद में गिर पड़ा!

आज बाबू साहब की बेटी की बारात वापस जाने वाली है। रात से ही महफिल जमी है, जो भोर तक भी खतम नहीं हुई। रंग-गुलाल उड़ रहे हैं, गुलाब-इत्र का छिड़काव हो रहा है, पान-इलायची कचरे जा रहे हैं। समधी-समधी मिल रहे हैं—हा-हा ही-ही का बाजार गर्म है। नाच-गान का समा बँधा है—हँसी-दिल्लगी के फव्वारे छूट रहे हैं। समूचा गाँव इस उत्सव तरंग में डुबकियाँ ले रहा है। इसी गाँव में, इसी समय एक घर में, इसी बारात के चलते, जो एक प्रलय-दृश्य उपस्थित है, उसकी ओर कौन ध्यान दे?

---

(१५)

बुढ़ापा

[श्री बेचन शर्मा 'उग्र']

लड़कपन के खो जाने पर उन्मत्त जवानी फूल-फूल कर हँस रही थी, बुढ़ापे के पाने पर फूट-फूट कर रो रही है। उस खोने में दुःख नहीं, सुख था; सुख नहीं स्वर्ग भी था। इस पाने में सुख नहीं है, दुःख ही नहीं, नरक भी है। लड़कपन का खोना वाह ! वाह !! बुढ़ापे का पाना—हाय ! हाय !

लड़कपन स्वर्ग दुर्लभ सरलता से कहता था—'मैया, मैं तो चन्द्र खिलौना लैहों।' जवानी देव-दुर्लभ प्रसन्नता से कहती थी—'दौर में सागर रहे गर्दिश में पैमाना रहे।' और 'अंगं गलितं पलितं मुण्डम्' वाला बुढ़ापा, भवसागर के विकट थपेड़ों से व्याकुल होकर कहता है—'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।'

कौन कहता है कि जीवन का अर्थ उत्थान है, सुख है, हा-हा-हा-हा है? यह सब सफेद झूठ है, कोरी कल्पना है, धोखा है, प्रवञ्चना है। मुझसे पूछो। मेरे तीन सौ पैंसठ लम्बे-लम्बे दिनों और लम्बी-लम्बी रातों वाले—एक, दो, दस, बीस, नहीं, साठ वर्षों से पूछो। मेरे कटु अनुभव से पूछो, मेरी लागरी से पूछो, दुर्बलता से पूछो। वे तुम्हें, दुनिया के बालकों

और जवानों को, बतलायेंगे कि जीवन का अर्थ 'वाह' नहीं, 'आह' है, हँसी नहीं, रोदन है; स्वर्ग नहीं, नरक है।

लड़कपन ने पन्द्रह वर्षों तक घोर तपस्या कर क्या पाया—जवानी के रूप में सर्वनाश, पतन। जवानी ने बीस वर्षों तक कभी धन के पीछे, कभी रूप के पीछे, कभी यश के पीछे और कभी मान के पीछे दौड़ लगाकर क्या हासिल किया? वार्धक्य के लिफाफे में सर्वनाश, पतन और-और अब वह बुढ़ापा घंटों नाक दबाकर, ईश्वर-भजन कर, सिद्धियों की साधना में दत्तचित्त होकर, खनखन का खजाना इकट्ठा कर, बेटों की 'बटालियन' और बेटियों की 'बेटरी' तैयार कर कौन सी बड़ी विभूति अपनी मुट्ठी में कर लेगा? वही सर्वनाश, वही पतन। मुझसे पूछो, मैं कहता हूँ—और छाती ठोंक कर कहता हूँ—जीवन का अर्थ है प··· त··· न।

रोज की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। प्रातःकाल उदयाचल के मस्तक पर शोभित दिनमणि कैसा प्रसन्न रहता है। सुन्दरी उषा से होली खेल-खेल कर गंगा की बेला को, तरंगों को, मन्द मलयानिल को, नीलाम्बर को, दसों दिशाओं को और भगवती प्राची के अञ्चल को उन्माद से, प्रेम से और गुलाबी रंग से भर देता है। अपने आगे दुनिया का नाच देखते-देखते मूर्ख दिवाकर भी इसी रंग में रंगकर वही नाच नाचने लगता है। जीवन का अर्थ सुख और प्रसन्नता में देखने लगता है। मगर मगर।

रोज की बात है। तुम भी देखते हो, मैं भी देखता हूँ, दुनिया भी देखती है। सायंकाल अस्ताचल की छाती पर पतित, मूर्च्छित दिनमणि कैसा अप्रसन्न, निर्जीव रहता है। वह गुलाबी

लड़कपन नहीं, वह चमकती-दमकती गरम जवानी नहीं, वह ढलता हुआ कम्पित करों वाला व्यथित बुढ़ापा भी नहीं। श्री नहीं, तेज नहीं, ताप नहीं, शक्ति नहीं। उस समय सूर्य को उसकी दिन भर की तपस्या, रसदान, प्रकाशदान का क्या फल मिलता है? सर्वनाश, पतन। उस पार क्षितिज के चरणों के निकट, समुद्र की हाहामयी तरंगों के पास पतित सूर्य की रक्त-चिता जलती है। माथे पर सायंकाल रूपी काला चांडाल खड़ा रहता है। प्राची की अभागिनी बहिन पश्चिमा 'आग' देती है। दिशायें व्यथित रहती हैं, खून के आँसू बहाती हैं। प्रकृति में भयानक गम्भीरता भरी रहती है। पतित सूर्य की चिता की लाली से अनन्त ओत-प्रोत रहता है।

उस समय देखने वाले देखते हैं, ज्ञानियों को ज्ञान होता है कि जीवन का असली अर्थ और कुछ नहीं केवल सर्वनाश है।

कोरी बातों में दार्शनिक विचार रखने वालों की कमी नहीं। कमी होती है कर्मियों की, बातों के दायरे से आगे बढ़ने वालों की।

जीवन का अर्थ पतन या सर्वनाश है, यह कह देना सहल है। दो-चार उदाहरण देकर अपनी बात की पुष्टि कर देना भी कोई बड़ी बात नहीं, पर पतन या सर्वनाश को आँखों के सामने रखकर जीवन-यात्रा में अग्रसर होना, केवल दुरूह ही नहीं, असम्भव भी है।

उस दिन गली पार कर रहा था, कि कुछ दुष्ट लड़कों की नजर मुझ पर पड़ी। उसमें से एक ने कहा—

'हट जाओ, हट जाओ। हनुमानगढ़ी से भाग कर यह

जानवर इस शहर में आया है। क्या अजीब शक्ल पायी है। पूरा किष्किन्धावासी मालूम पड़ता है।'

बस; बात लग गई। बूढ़ा हो जाने से ही इन्सान बन्दर हो जाता है। इतना अपमान ? बूढ़ों की ऐसी अप्रतिष्ठा! झुकी हुई कमर को कुबड़ी के सहारे सीधो कर मैंने उन लड़कों से कहा—

'आज कमर झुक गई। आज आँखें कम देखने और कान कम सुनने के आदी हो गये हैं। आज दुनिया की तस्वीरें भूले हुए स्वप्न की तरह झिलमिल दिखाई दे रही हैं। आज विश्व की रागिनी अतीत की प्रतिध्वनि की तरह अस्पष्ट सुनाई पड़ रही हैं; मगर हमेशा यही हालत नहीं थी।'

'अभी छोकरे हो, बच्चे हो, नादान हो, उल्लू हो। तुम क्या जानो कि संसार परिवर्त्तनशील है ! तुम क्या जानो कि प्रत्येक बालक यदि जीता रहा तो जवान होता है और प्रत्येक जवान, अगर जल्द खत्म न हो गया, तो एक न एक दिन 'हनुमानगढ़ी का जानवर' होता है। लड़कपन और जवानी के हाथों बुढ़ापे पर जैसे अत्याचार होते हैं, यदि वैसे ही अत्याचार बुढ़ापा भी उन पर करने लगे तो ईश्वर की सृष्टि की इति हो जाय। बच्चे जन्मते ही मार डाले जायँ। लड़के होश सँभालते ही अपना पेट पालने के लिए घर से बाहर निकाल दिए जायँ। संसार से दादा के माल पर फातिहा पढ़ने की प्रथा ही उठ जाय।'

'अब भी सौ में निन्यानवे धनी अपने बूढ़े बापों की कृपा से गद्दीदार बने हुए हैं। अब भी हजार में नौ सौ साढ़े-निन्यानवे शौकीन जवानों के भड़कीले कपड़ों के दाम, कंघी,

शीशा, ओटो, लवेन्डर, सोप, पाउडर, पालिस और इस प्रकार की अनेक फालतू चीजों की फर्मायश की पूर्ति बूढ़ों की गाढ़ी कमाई की थैली से ही होती है। अब भी संसार में दया, प्रेम, करुणा और मनुष्यता की खेती में पानी देने वाला, कमजोर हृदय वाला बुढ़ापा ही है, बेवकूफ लड़कपन नहीं, मतवाली जवानी नहीं...... ..

'फिर बूढ़ों का इतना अपमान क्यों, बुढ़ापे के प्रति ऐसी अश्रद्धा क्यों ?'

मगर उन लड़कों के कान तक मेरी दुहाई की पहुँच न हो सकी। सब ने एक स्वर से ताली बजाबजाकर मेरी बातों की चिड़ियों को हवा में उड़ा दिया।

'भागो ! भागो !! हनुमान जी खावँ-खावँ कर रहे हैं। ठहरोगे, तो किटकिटा कर टूट पड़ेंगे नोच खाने पर उतारू हो जायँगे।'

लड़के हू-हू हो-हो करते भाग खड़े हुए। मैं मुग्ध की तरह उनके अल्हड़पन और अज्ञान की ओर आँखें फाड़ फाड़ कर देखता ही रह गया। उस समय एकाएक मुझे उस सुन्दर स्वप्न की याद आई, जो मैंने आज से युगों पूर्व लड़कपन और यौवन के सम्मेलन के समय देखा था। कैसा मधुर था वह स्वप्न !

(३)

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। संसार बुरा कहे या भला—परवाह नहीं। दुनियाँ मेरी हालत पर हँसे या हजो करे—कोई चिन्ता नहीं। कोई खिलाड़ी हो, तो सामने आये। मैं जुआ खेलूँगा।

एक बार जुआ खेलने को जी चाहता है। जी चाहता है—एक ओर मेरा साठ वर्षों का अनुभव हो, मेरे सफेद बाल हों झुर्रीदार चेहरा हो, काँपते हाँथ हों, झुकी कमर हो, मुर्दा दिल हो, निराश हृदय हो और मेरी जीवन भर की गाढ़ी कमाई हो। सैकड़ों वर्षों के प्रत्येक सन के हजार-हजार रुपये, लाख-लाख गिन्नियाँ और गड्डियों नोट एक ओर हों और कोरी जवानी एक ओर हो। मैं पाँसे फेंकने को तैयार हूँ। सब कुछ देकर जवानी लेने को राजी हूँ। कोई हकीम हो, सामने आये उसे निहाल कर दूँगा; मैं बुढ़ापे के रोग से परेशान हूँ। जवानी की दवा चाहता हूँ। कोई डाक्टर हो तो आगे बढ़े, मुँह-माँगा दूँगा। कह चुका हूँ, निहाल कर दूँगा, मालामाल कर दूँगा!

हर साल वसन्त आता है। बूढ़े-से-बूढ़ा रसाल माथे पर मौर धारण कर ऋतुराज के दरबार में खड़ा होकर झूमता है। सौरभ सम्पन्न समीर मन्द-गति से प्रकृति के कोने-कोने में उन्माद भरता है। कोयल मस्त होकर 'कुहू-कुहू' करने लगती है। मुहल्ले-टोले के हँसते हुए गुलाब नवयुवक उन्माद की सरिता में सब कुछ भूलकर, विहार करने लगते हैं, खिलखिलाते हैं, धूम-चौकड़ी मचाते हैं, चूमते हैं, चुम्बित होते हैं, लिपटते हैं, चिपटाते हैं। दुनिया के पतन को, उत्थान को और सर्वनाश को मङ्गल का जामा पहिनाते हैं। और मैं टका-सा मुँह लिये, कोरी आँखों तथा निर्जीव हृदय से इस लीला को टुकुर-टुकुर देखा करता हूँ।

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है।

हर साल मतवाली वर्षाऋतु आती है। हर साल प्रकृति के प्रांगण में यौवन और उन्माद, सुख और विलास, आनन्द और आमोद की तीव्र मदिरा का घड़ा ढुलकाया जाता है। लड़कपन

मुग्ध होकर लोट-पोट हो जाता है—'काले मेघा पानी दे।' जवानी पगली होकर गाने. लगती है—'आई कारी बदरिया ना।' और मेरा बुढ़ापा ? अभागा ऐसे स्वर्गीय सुख के भोग के समय कभी सर्दी के चंगुल में फँसकर खाँसता रहता है, कभी गर्मी के फेर में पड़कर पंखे तोड़ता है। सामने की परोसी हुई थाली भी हम अपने दुर्भाग्य के कारण नहीं खा सकते ! तड़प-तड़प कर रह जाते हैं। उफ !

उस समय मालूम पड़ता है, बुढ़ापा ही नरक है।

इस नरक से मुझे कोई बाहर कर दे—युवा बना दे। मैं आजन्म गुलामी करने को तैयार हूँ। बुढ़ापे की बादशाही से जवानी की गुलामी करोड़ दर्जा अच्छी है, हाँ-हाँ. करोड़ दर्जा अच्छी है। मुझ से पूछो, मैं जानता हूँ, मैं भुक्त भोगी हूँ, मुझ पर बीत रही है।

(४)

मगर नहीं वार्द्धक्य वह रोग नहीं, जिसकी दवा की जा सके. यह मर्ज लाइलाज है। यह दर्द-सर ऐसा है, कि सर-जाए तो जाए पर दर्द न जाए।

लड़कपन के स्वर्ग का विस्मृतिमय अद्वितीय सुख देख चुका। जवानी की अमरावती में विविध भोग-विलास कर चुका। अब बुढ़ापे के नरक में आया हूँ। भोगना ही पड़ेगा। इस नरक से मनुष्य की तो हस्ती ही क्या है, ईश्वर भी छुटकारा नहीं दिला सकता। बुढ़ापा वह पतन है जिसका उत्थान केवल एक बार होता है और वह होता है दहकती हुई चिता पर। हमारे रोग की अगर दवा है, तो एक 'जाह्नवीतोये'। यदि वैद्य है तो एक 'नारायणो हरिः'।

फिर अब देर काहे की, प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो, जीवन की रस्सी काट डालो। अब यह नरक भोगा नहीं जाता। भवसागर में हाथ मारते-मारते थक गया हूँ। मेरा जीवन-दीपक स्नेहशून्य है, गुणरहित है, प्रकाशहीन है। इसका शीघ्र ही नाश करो, पंचत्व में लय करो।

फिर से, नये सिरे से, निर्माण हो, फिर से, नये सिरे से, सृष्टि हो; फिर से, नये सिरे से, जन्म हो; फिर से, नये सिरे से, शैशव हो; फिर से, नये सिरे से, यौवन हो; फिर से, नये सिरे से भोग हो, विलास हो, सुख हो, आमोद हो, विनोद हो, कविता हो, प्रेम हो, पागलपन हो, मान में अपमान और अपमान में मान हो ! फिर से, नये सिरे से, यौवन की मतवाली अंगूरी सुरा ऐसी छने कि लोक भूल जाय, परलोक भूल जाय, भय भूल जाय, शोक भूल जाय, यह भूल जाय, वह भूल जाय, हम भूल जायँ और तुम ईश्वर भूल जाओ ! तब जीवन का सुख मिले, तब पृथ्वी का स्वर्ग दिखाई पड़े।

फिर, अब देर काहे की प्रभो ? दया करो, 'समन' भेजो; जीवन की रस्सी काट डालो !

—:o:—

(१६)

बड़े घर की बात

[सुभद्राकुमारी चौहान]

फूलशय्या के ही दिन फूल और मनोहर में तनातनी हो गई। फूल स्वभाव से ही कम बोलने वाली और लजीली थी। उधर मनोहर ऐंग्लो-इंडियन छोकरियों के साथ सिनेमा थिएटर देख चुके थे, उनकी उच्छृङ्खलता और उद्दंडता के आदी थे। वे सपना देख रहे थे कि उनके कमरे में पैर रखते ही नववधू मुस्कराती हुई 'हल्लो डार्लिंग' कहकर उन्हें बिठायेगी, उनसे घुल-घुलकर प्रेम की बातें करेगी और उन्हें जबरन अपने पास बिठा रखेगी, वे उठना चाहेंगे तो वह उठने न देगी, लच्छेदार बातों से उन्हें उलझा रखेगी, घड़ी के जाते हुए समय को 'एनिमी' (दुश्मन) कहकर अफसोस करेगी। ये आशाएँ उन्होंने नववधू से इसलिए की थीं कि वह मैट्रिक पास थी और उसने अपने छोटे से जीवन के अधिकांश दिन बोर्डिङ्ग-हाउस में ही बिताये थे।

जिस समय मनोहर फूलों का हार गले में डाले, इत्र में बसे बसाये अपने कमरे में आये, नववधू फूल लैंप के पास खड़ी चुपचाप एक पुस्तक के पन्ने उलट रही थी। किसी अज्ञात

आशंका से वह रह-रहकर काँप सी उठती थी। उसके पति होते हुए भी मनोहर आज तो उसके लिए पर-पुरुष ही थे। उनसे कैसे बोलूँगी, क्या कहूँगी, कहीं कोई बेवकूफी न हो जाय। फूल मन ही मन बहुत घबरा रही थी। अचानक किसी के हल्के पैरों की आहट होते ही वह पुस्तक छोड़कर एक कोने में सिमट कर खड़ी हो गयी। मनोहर बाबू अपना यह अपमान न सह सके। एक क्षण तो वह चुपचाप खड़े रहे, फिर तिरस्कार-भरे स्वर में बोले—क्या स्कूल और घर में यही शिक्षा मिली है कि आये हुए पति की तरफ पीठ करके खड़ी हो जाओ ?

फूल सिहर उठी, किन्तु कुछ बोली नहीं। मनोहर का पारा और गरम हो गया। कठोर स्वर में बोले—मैंने तो समझा था पढ़ी-लिखी है तो कुछ अकल भी होगी लेकिन वही गँवार की गँवार।

इस पर भी जब फूल कुछ न बोली—तो वह झल्लाये हुए उठे और फूल का घूँघट जोर से पीछे से खींच लिया। रेशमी साड़ी थी। मुँह के साथ उसका सिर भी खुल गया, पल्ला पीठ पर आ रहा। फूल बोली तो कुछ भी नहीं मगर फौरन ही अपना सिर ढँककर कमरे से बाहर हो गयी। मनोहर गुस्से से 'शकल चुड़ैलों की नखरे परियों के' कहते कहते सीढ़ियों से नीचे उतर गये, फूल चुपचाप आँसू बहाती हुई खड़ी रही। अचानक मनोहर को बाहर जाते देख उनकी बहिन यशोदा ने आकर पूछा क्या हुआ भौजी ? भय्या क्यों चला गया ?

फूल ने कोई उत्तर न दिया। वह अपनी ननद से जो उसकी सास की जगह पर थी कुछ सहानुभूति की आशा रखती थी, मगर यहाँ उल्टा ही हुआ। यशोदा ने फूल को झकझोर कर

कहा-बोलती क्यों नहीं चंडालिन? दो बात भय्या से कर लेती तो क्या तेरी जबान घिस जाती! एक वह थी जिसने उसके जी को जला-जलाकर उसे आधा कर दिया। अब तू आयी है तो तेरे ये लच्छन! आदमी का मिजाज भी देखना पड़ता है। जिसमें खुश रहें वही करना चाहिए, पर आजकल की छोकरियों का मिजाज भी तो सातवें आसमान पर रहता है।

फूल आँसू बहाती रही। ननद की बातों का भी उसने कोई जवाब न दिया।

इस घटना के बाद कई दिन बीत गये, मनोहर ने पत्नी की तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखा। वे अपने राग-रंग में मस्त थे, विवाह तो उनकी बहिन ने जबरदस्ती करवाया था। पहली स्त्री से एक बच्चा था। बच्चा तब तक जीता रहा तब तक तो विवाह की जरूरत न जान पड़ी, लेकिन एक दिन जब वह बच्चा भी माँ का अनुगामी हुआ तो इतनी बड़ी जायदाद का कोई वारिस तो होना चाहिए, इस ख्याल से यशोदा ने भाई के सामने रो-धोकर उन्हें जबरदस्ती विवाह के लिए मजबूर किया। यशोदा विधवा थी। यह सब जायदाद भी उसी की थी। मनोहर को छः महीने की उमर से पाला था, मनोहर ही उसका पुत्र या भाई सब कुछ था, किन्तु दोनों भाई बहन एक से रूखे स्वभाव के, तुनुकमिजाज, बाहर अच्छे और भीतर खट्टे थे। मनोहर की पहली स्त्री कुमुद ने भी जिस दिन से इस देहली के भीतर पैर रखा था, एक दिन भी बिना रोये रोटी न खा सकी थी और इसी प्रकार छः महीने के बच्चे को छोड़कर एक दिन वह जहर खाकर अपनी जीवन-लीला समाप्त करके चली गयी। बड़े घर की बात बाहर कहाँ जाती है। हार्टफेल

होने से मृत्यु हो गयी कहकर मामला रफा-दफा कर दिया गया।

फूल ने भी ये सब बातें सुन लीं, मगर अब क्या हो सकता था। उसने सोचा, खैर जैसा जो कुछ है मुझे तो निभाना ही है, अब तो यही मेरे परमेश्वर, मेरे आराध्य और देवता हैं, किसी तरह उन्हें मनाना चाहिए। मुँह से तो कुछ बोलते हुए उसे लज्जा आती थी और बोलने का कोई अवसर भी न मिलता था, इसलिए उसने सोचा, एक पत्र लिखूँ, शायद देवता सीधे हो जायँ। वह कागज कलम लेकर बैठी। बहुत सोचने-समझने के बाद उसने एक पत्र लिखा—

मेरे देवता,

कई दिनों से सोच रही हूँ कि आपको एक पत्र लिखूँ, परन्तु क्या लिखूँ, कैसे लिखूँ मेरी समझ में नहीं आता। माना कि मैं अपराधिनी हूँ फिर भी क्या आप मुझे क्षमा नहीं कर सकते ? भूल तो मनुष्य से हो ही जाती है। मुझसे भूल हुई और बड़ी भारी भूल हुई, मैंने आपके कोमल हृदय को दुखाया, आपका अपमान किया, आपकी पूजा में त्रुटि की, देवता का सम्मान न कर सकी, न जाने किस अहंकार में, किस मद में बावली हो गयी। किन्तु आप तो क्षमा कर सकते हैं। मुझे आपके चरणों की सेवा का अवसर दीजिए। मेरी त्रुटियों को भूल जाइए, मैं आपके चरणों पर सिर झुका आपसे यही वरदान माँगती हूँ, मेरे स्वामी !

आपकी

अपराधिनी फूल

पत्र समाप्त कर ज्योंही फूल ने पीछे देखा मनोहर खड़े थे। फिर उसी लज्जा और संकोच ने मामला बिगाड़ा। झट से पत्र के टुकड़े-टुकड़े कर फूल दूसरी तरफ खड़ी हो गयी। मनोहर की त्योरियाँ चढ़ गयीं। उनके सिर से पैर तक आग सी लग गयी। फूल के पास पहुँचकर उसे घसीटकर उन्होंने उसका मुँह सामने कर दिया, बोले—किसे पत्र लिख रही थीं, सच कहो!

फूल का सारा शरीर काँप रहा था, वह कुछ भी न बोल सकी।

मनोहर ने उसके कान ऐंठते हुए कहा—बोलो, नहीं तो अभी तुम्हारी हड्डी-पसली तोड़ दूँगा।

फूल को भी क्रोध आ गया। उसकी मुद्रा कठोर हो गयी, बोली—मैं नहीं बतला सकूँगी, जो कुछ आपको करना हो, कर लीजिए।

फूल का यह कहना था कि बस मनोहर उसको पीट चले। फूल ने जबान न हिलायी, मगर वह जब तक बेहोश न हो गयी मनोहर उसे मारते ही रहे।

दूसरे दिन अचानक मुहल्ले भर में यह हवा फैल गई कि मनोहर की दूसरी स्त्री का भी हार्ट फेल हो गया। अर्थी के साथ बहुत से लोग थे जो असली वाकये से वाकिफ थे मगर शहर के इतने बड़े और पायेदार आदमी के खिलाफ जबान खोलने की किसे हिम्मत थी। ऊँह, मर गयी तो मर भी जाने दो, स्त्री ही तो थी। कल तीसरी आ जायगी।

—:❀:—

(१७)

गोरा

[चन्द्रगुप्त विद्यालंकार]

(१)

कह नहीं सकते कि सुखी जीवन की वास्तविक पहिचान क्या है, फिर भी इतना निश्चित है कि जीवन एक सुखी किसान था। आर्थिक दृष्टि से वह बिलकुल दरिद्र था। गाँव की हद जहाँ जंगल से मिलती थी, उस स्थान की २०—२५ बीघा मामूली ढंग की जमीन पर उसका मौरूसी हक था। उसके परिवार में पत्नी के अतिरिक्त २—३ बच्चे भी थे। घर-गिरस्ती के लिये आवश्यक सामान का उसके पास अभाव नहीं था। मुरब्बा और परौंठे न सही नमकीन सत्तू ही सही—यह परिवार जिस किसी तरह दोनों जून अपने पेट के गढ़ों को भर अवश्य लेता था। पति-पत्नी में खूब निभती थी। दोनों ही शरीर से स्वस्थ और स्वभाव के मीठे थे। जीवन मेहनती आदमी था। उसे काम करने का शौक था—मानो वह इसके लिये बहाने ढूँढ़ता हो। रबी की फसल कट चुकने के बाद भी उसे किसी ने सुस्ताते नहीं देखा। उन दिनों के लिये वह पहिले-ही-से अपनी जमीन के ५—७ कम उपजाऊ बीघों को घेर-

घारकर तय्यार कर रखता था। यहाँ खरबूजे बोये जाते थे। जीवन-परिवार के ये दिन बड़े मजे में कटते थे। खरबूजों के खेत में जामुन की घनी छाया के नीचे फूँस की एक जरा सी झोपड़ी; यह जीवन के खरबूजों का स्टोर-हाऊस था और यही उसके परिवार का आश्रय-स्थान। वैशाख मास के गर्म दिनों की दोपहर जामुन के इसी पेड़ की छाया में कटा करती थी। साँझ के बाद, दिन भर बिकने से बचे हुए खरबूजों के साथ गेहूँ की रोटी खाकर ये लोग ईश्वर को दुआएँ दिया करते थे। उन्हें न धनियों से द्वेष था और न जमींदारों से ईर्ष्या।

वैशाख मास की किसी चाँदनी रात को पास ही से एक हलकी-सी आवाज सुनकर जीवन की नींद उचट गई। करीब आधी रात बीत गई थी। जीवन को भय हुआ कि कहीं बाड़ फांदकर गीदड़ तो खेत में नहीं घुस आये, परन्तु एक बार चाँदनी में अपने छोटे से खेत को भली प्रकार देख लेने पर उसका यह सन्देह दूर हो गया। इसी समय उसे फिर से वही आवाज सुनाई दी। यह आवाज सुनकर जीवन पहिचान गया कि खेत के पास वाले जंगल में, कोई जंगली जीव किसी गाय के बछड़े पर आक्रमण कर रहा है। अपने खेत में किसी प्रकार के उपद्रव न देखकर पहिले तो जीवन की इच्छा हुई कि न जाऊँ—क्यों मुफ्त में एक बछड़े के लिये अपनी जान खतरे में डालूँ; परन्तु बार बार 'बाँ' 'बाँ' की करुण चिल्लाहट सुन कर वह रह न सका। जीवन खाट से उतर कर खड़ा हो गया। एक हाथ में मजबूत डंडा और दूसरे हाथ में टूटी हुई चिमनी वाला, बरसों का पुराना हरिकेन लैम्प लेकर वह उसी ओर चल दिया जिस ओर से कि आवाज आ रही थी।

खेत की हद्द से मिलकर जो जंगल मीलों तक फैला हुआ था, उसका प्रान्त भाग बहुत घना नहीं था। साधारण झाड़ियों और ढाक के पेड़ों के अतिरिक्त कोई बड़ा वृत्त वहाँ नहीं था। जंगल में प्रविष्ट होकर, एक बड़े कुंड का ओट में उसने देखा कि एक छोटे से बछड़े पर ४—५ गीदड़ आक्रमण कर रहे हैं और वह बेचारा जमीन पर लेटा हुआ बड़े करुण स्वर में 'बां' 'बां' कर रहा है। एक लैम्प-हस्त आदमी को अपनी तरफ आता हुआ देखकर सब गीदड़ भाग खड़े हुए।

जीवन ने पास जाकर देखा कि बछड़े को बहुत अधिक चोट नहीं आई है। सिर्फ उसकी अगली दांई टाँग और पीठ का कुछ भाग ही जखमी हुआ है। जीवन ने अनुमान से पहिचाना कि उसकी आयु दो मास से अधिक प्रतीत नहीं होती। बछड़े का रंग बिल्कुल श्वेत था और उसके माथे पर लाल शंख का निशान बना हुआ था। जीवन बछड़े को धीरे से गोद में उठाकर अपनी झोपड़ी में चला गया।

प्रातःकाल उठकर जीवन ने जाँच करके देखा कि बछड़े की जात बहुत अच्छी है। अगर कुछ यत्न किया जाय तो वह एक बहुत बढ़िया बैल बन सकता है। जीवन की घरवाली अभी सोई ही हुई थी कि जीवन ने इस बछड़े को उसकी चारपाई पर डाल दिया वह हड़बड़ा कर उठ बैठी। इस प्रकार अकस्मात् निद्रा भंग हो जाने का कारण भी अभी तक वह पूरी तरह से नहीं समझ पाई थी कि उसने सुना; जीवन कह रहा था— "परमेश्वर ने पालने के लिये तुम्हें एक और बच्चा दिया है।"

पति-पत्नी दोनों ने सम्मिलित रूप से खूब सोच-विचारकर इस मनुष्येतर जाति के बालक का नाम रक्खा—'गोरा।'

जीवन की किस्मत अच्छी थी। उसके प्रयत्न से गोरा के दोनों घाव शीघ्र ही भर गये। अच्छा होकर वह खूब कूदने फाँदने लगा। कुछ ही महीनों में गोरा का डील-डौल खूब भर आया। उसके कन्धे उन्नत और पट्ठे मजबूत हो गए।

(२)

देखते ही देखते 'गोरा' एक बड़ा डील-डौल वाला बैल बन गया। उसके मुकाबिले का बैल आस-पास के अनेक गाँवों में मिलना कठिन था। उसकी चाल हाथी की चाल के समान मस्तानी थी और उसकी गरज बादल की गरज के समान गम्भीर। लोग उसे अब विस्मय के साथ देखते और जीवन के भाग्यों की सराहना करते थे।

जीवन को गोरा पर अपने बच्चों के समान प्रेम था। प्रतिदिन दोनों समय मेहनत करके वह उसके लिए कुटी तय्यार किया करता था। यथाशक्ति वह उसे कभी कभी तेल और घी भी पिलाया करता था। जीवन की घरवाली को तो गोरा से एक तरह का मोह हो गया था। वह उसे हर समय आँखों के सामने रखना चाहती थी। उसके छोटे बच्चे उस विशाल-काय बैल की चौड़ी छाती के नीचे खड़े होकर उसके गले की नरम और सुन्दर सास्ना को अपने चंचल हाथों से इधर उधर हिलाया करते थे। गोरा आँखें बन्द करके बच्चों के इस अबोध-प्यार का मजा लिया करता था। गोरा के डील-डौल का दूसरा बैल जीवन के पास तो क्या, गाँव-भर में नहीं था, इस कारण जीवन उसे हल में नहीं जोत सकता था। यही दलील देकर बहुत से लोगों ने एक हजार रुपयों तक दाम लगाकर गोरा को जीवन से खरीदना चाहा, परन्तु जीवन को यह मंजूर नहीं

था। वह कहता था, कभी धन के लालच से कोई अपनी सन्तान को भी बेंचता है? जीवन के पास एक मामूली-सी बैलगाड़ी थी, वह गोरा को इसी में जोता करता था।

जीवन के गाँव के नजदीक ही एक बहुत बड़ा सरकारी मैदान था। लोगों में मशहूर था कि मुसलमानी हुकूमत के दिनों में राह चलती हुई फौजें इसी मैदान में पड़ाव किया करती थीं। आजकल यह मैदान एक ग्रामीण प्रदर्शिनी के काम में लाया जाता था। यहाँ शरद्-ऋतु में सरकार की ओर से पशुओं की एक बड़ी भारी नुमाइश की जाती थी। दूर दूर के लोग इस नुमाइश में अपने जानवरों को लाते थे। जो जानवर सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होते थे, उन्हें सरकार की ओर से इनाम भी दिया जाता था।

गाँव के जमींदार का नाम था लखपतराय। वह बेपरवाह, आलसी और शौकीन आदमी था। गाँव के काम-काज में अधिक दखल देना उसे पसन्द नहीं था। यही कारण था कि उस गाँव के किसानों को वर्ष के अधिकांश भाग में अपने जमींदार से कोई विशेष शिकायत नहीं रहती थी। परन्तु जिन दिनों जमींदार को दावत, शिकार या सरकारी अफसरों की खातिरदारी करने की खब्त सवार होती थी, उन दिनों गाँव वालों की आफत आ जाती थी। नुमाइश के महीने में जब जिले के कुछ मोटे अफसर इन्तजाम का काम करने के लिये इस गाँव में आते थे, उन दिनों उनकी खातिर करते करते किसानों की जान निकलने लगती थी।

प्रदर्शिनी की प्रतिस्पर्धा में भाग लेने का जमींदार को खास शौक था। उसने कुछ बैल और घोड़े महज इसी काम के लिये पाल रक्खे थे। जमींदार के जानवर थे, खाने पीने की क्या

कमी ? खास कर नुमाइश के दिनों में एक एक जानवर के पीछे चार चार किसान दिन-रात भागे फिरते थे। नुमाइश का सब से पहिला इनाम कई बरसों से लखपतराय को उसके एक बैल के लिये मिल रहा था। इस वर्ष भी जमींदार को यह विश्वास था कि प्रदर्शिनी का प्रथम पुरस्कार उसी के हाथ में रहेगा।

इधर लोगों को यकीन था कि जमींदार के बैल का गोरा से कोई मुकाबिला ही नहीं है। यदि दोनों बैलों को भिड़ा दिया जाय तो गोरा एक ही बार में जमींदार के बैल को दूर पटक दे। इस कारण लोग जीवन पर इस बार की प्रदर्शिनी में सम्मिलित होने के लिये जोर डाल रहे थे, मगर वह इनकार करता था। मगर यार लोग भी कब मानने वाले थे ? खास कर जो लोग प्रतिवर्ष जमींदार से नीचा देखते थे, वे भला इस सुवर्ण अवसर को किस तरह हाथ से जाने देते ? आखिर लोगों ने इस वर्ष की प्रदर्शिनी में सम्मिलित होने के लिये जीवन को तैयार कर ही लिया।

नतीजा यह हुआ कि इस वर्ष नुमाइश का प्रथम पुरस्कार जमींदार को नहीं मिल सका, गोरा ही इस इनाम का अधिकारी समझा गया।

(३)

जीवन अपनी गाड़ी को घर की तरफ दौड़ाये लिये जा रहा था। गोरा के लिये यह खाली गाड़ी फूल के समान हल्की थी। गोरा ने कल ही नुमाइश में नामवरी हासिल की थी, इसलिए जीवन ने उसे आज यथेष्ठ घी पिलाया था। गोरा के गले में उसने फूलों की एक माला डाल रक्खी थी। पशु होते हुए भी

गोरा यह समझ गया था कि आज उसका मालिक उससे विशेष प्रसन्न है। इस कारण वह मस्तानी चाल से गाड़ी को उड़ाये चला जा रहा था। गाड़ी में बैठा हुआ जीवन, अपने ऊबड़-खाबड़ स्वर में कोई ग्रामीण गीत गा रहा था।

अपने घर के सामने पहुँचते ही जीवन का हृदय किसी निकट अनिष्ट की आशंका के भय से काँप उठा। उसके घर के द्वार पर जमींदार का कारिन्दा खड़ा हुआ था। जीवन का उन्मुक्त संगीत सहसा रुक गया। अजान पशु ने भी मानों अपने मालिक के मन का भाव भाँप लिया—उसकी चाल धीमी पड़ गई।

इसी समय कारिन्दे ने आगे बढ़कर आदेश दिया—"जीवन, चलो, तुम्हें जमींदार ने याद किया है।"

"भाई साहब, राम राम" कहकर जीवन ने बड़ी नर्म आवाज से पूछा—"कुछ मालूम है कि मुझे मालिक ने क्यों बुलाया है?"

कारिन्दे ने लापरवाही से जवाब दिया—"नहीं, मुझे क्या मालूम?"

जीवन जमींदार के सामने पहुँचा। जमींदार लखपतराय अपने मकान के सामने धीरे-धीरे टहल रहा था। जीवन ने वहाँ पहुँच कर उसे झुक कर बन्दगी की।

लखपतराय ने मुस्किरा कर कहा—"जीवन, नुमाइश की जीत के लिये बधाई!"

जीवन का हृदय काँप गया। यह ताना है या बधाई! उसने धीमे से सिर्फ इतना ही कहा—"यह हजूर की मेहरबानी है।"

अब जमींदार ने खूब गम्भीर होकर कहा—"जीवन, मैं सचमुच तुम्हारे बैल से बड़ा प्रसन्न हूँ। मैं उसे तुमसे खरीद

लेना चाहता हूँ मुझे मालूम हुआ कि वह बैल तुम्हारे यहाँ बिल्कुल निठल्ला रहता है, इसलिये मुझे उम्मीद है कि उसे बेंचने में तुम आनाकानी न करोगे।"

जीवन काँप गया। उसने कोई जवाब नहीं दिया।

जमींदार ने कहा—"बोलो, चुप क्यों हो ?"

जीवन धीरे से बोला—"हजूर, आपके पास जानवरों की क्या कमी है। उस बैल को मैं बेंचना नहीं चाहता।"

"तुम्हें उसके बदले मुँह माँगा दाम मिलेगा।"

"मैं उसे किसी भी दाम पर बेचना नहीं चाहता। हजूर, मैं खुद भी तो आपही की जायदाद हूँ।"

जमींदार ने अब प्रलोभन देने का प्रयत्न किया—"तुम्हारा लगान माफ कर दूँगा।"

जीवन ने नकारात्मक उत्तर दिया।

जमींदार इस पर भी निराश नहीं हुआ। अब उसने अपने ब्रह्मास्त्र का वार किया—"तुम्हें यह बैल मुझे बेंच देना होगा।"

जीवन चुप रहा।

जमींदार ने फिर कहा—"सीधी तरह से नहीं दोगे, तो फिर किसी और उपाय से दोगे ?"

जीवन को भी कुछ आवेश आ गया। उसने काँपती हुई आवाज में कहा—"हरगिज नहीं।"

जमींदार ने कहा—"अच्छा, जाओ।"

इस दिन के बाद से अभागे जीवन पर जमींदार ने सख्ती करना शुरू किया। उससे कठिन बेगार ली जाने लगी ! बेगार

ऐसी ली जाती थी कि गोरा को दिन-रात काम में लगा रहना पड़े कभी-कभी अकेले गोरा को ही बेगार में माँग लिया जाता था। जीवन के दरिद्र परिवार पर यह एक नई आफत आ खड़ी हुई। परन्तु फिर भी जीवन ने पराजय स्वीकार नहीं की। अपनी किस्मत के भरोसे जीवन यह सब अत्याचार सहने लगा।

(४)

जंगल से लकड़ियाँ काट कर गाँव की तरफ लौटते हुए जीवन काँप उठा। आस्मान अचानक काले काले बादलों से घिर आया था। जीवन को जिस बात का भय था, आखिर वही हुई। इस चौमासे के दिनों में गाँव से तीन-चार मील दूर एक बरसाती नाला पार करके लकड़ियाँ काटने जाना सचमुच एक बड़े जोखिम का काम था। बरसात के कारण नाले का कोई विश्वास नहीं था, वह जाने कब भर कर बहने लगे। आज प्रातःकाल लखपतराय ने जीवन को इसी जंगल से बेगार में लकड़ियाँ काट लाने का आदेश दिया था। जीवन जब घर से चला था तब आस्मान साफ था, और नाले में भी बहुत कम पानी था। परन्तु साँझ के समय ज्यों ही गड्डे में लकड़ियाँ भरकर वह लौटने को तय्यार हुआ, त्यों ही इन्द्र देवता की सेना ने एक साथ आकाश-मंडल पर चढ़ाई कर दी।

जीवन ने रास हिलाकर गोरे को भागने का आदेश दिया। बरसाती नाला इस स्थान से चार-पाँच फर्लांग ही दूर था। जीवन की इच्छा थी कि वह जिस-किसी तरह भाग कर गड्डे सहित इस नाले के पार पहुँच जाय, उसके बाद देखा जायगा। परन्तु इस समय तक वर्षा बड़े जोर से शुरू हो गई थी नाले के रेतीले किनारे पर पहुँच कर जीवन ने बड़े दुःख के साथ

देखा कि नाला खूब भर कर बह रहा है। जीवन निराश हो गया। अब कई घंटे तक इसी पार बैठे रहने को वह बाध्य था। वर्षा की बौछार जीवन के शरीर पर खुले रूप में पड़ रही थी, इसलिए गड्डे से उतरा। उसने गोरे को गाड़ी से खोलकर किनारे की हरी हरी घास चरने के लिये छोड़ दिया। इसके बाद गड्डे की लकड़ियों को उसने कुछ ऐसे ढंग से रक्खा कि उसके अन्दर एक खोह सी बन गई। इस खोह के ऊपर अपनी चादर फैलाकर, वर्षा से बचने के लिए जीवन अन्दर बैठ गया।

सहसा गर्दन उठाकर गोरा एक बार बड़े जोर से गरज उठा। गोरा की यह गरज सुनकर जीवन भय से सिहिर उठा। धड़कते हुए दिल से उसने अपनी खोह में से सिर बाहर निकाला। देखा, गोरा अब भी पहिले-ही की तरह निश्चिन्तता से हरी हरी घास चर रहा है। वर्षा इस समय भी कम नहीं हुई। नाले के मटियाले पानी में वर्षा की बड़ी बड़ी बूँदें पड़कर उसे विक्षुब्ध कर रही हैं। इन बूँदों की मार से मानों वह नाला बौखला-सा उठा है। जीवन ने जंगल की तरफ मुड़कर देखा—चारों ओर सन्नाटे का राज्य है। केवल वर्षा पड़ने की साँय साँय आवाज इस निस्तब्धता को भंग कर रही है। जंगल के हरे हरे वृक्ष वर्षा में एक साथ चुपचाप स्नान कर रहे हैं। जीवन ने फिर से अपना सिर खोह में छिपा लिया। इस नीरव सन्नाटे में उसे कुछ कुछ भय प्रतीत होने लगा।

थोड़ी देर में बादल फट गये। वर्षा बन्द हो गई। पूर्व दिशा में इन्द्रधनुष निकल आया। सूर्य डूबने में अब अधिक समय नहीं रहा था। सूर्य की अन्तिम किरणों ने बादलों में अनेकों रंग पोत दिये थे। उनके प्रतिबिम्ब से बरसाती नाले का पानी

भी पिघले हुए सोने की उज्ज्वल धार के समान प्रतीत हो रहा था। जंगल में मोर बोलने लगे। प्रकृति का सन्नाटा भंग हो गया। चारों ओर का दृश्य स्वर्गीय हो उठा। परन्तु बेगार में पकड़े गये जीवन का ध्यान इन दृश्यों की ओर नहीं था। वह बड़ी उत्कंठा से नाले का पानी कम हो जाने की प्रतीक्षा कर रहा था।

धीरे-धीरे नाले का पानी भी उतर गया। जीवन की अब जान में जान आई। गोरा को गड्डे में जोतकर फिर से अपनी खोह में आ बैठा, और रास हिला कर गोरा को चलने को आज्ञा दी। सामने सूर्य अस्त हो रहा था।

किनारे के उस हरे मैदान से उतर कर गोरा नाले के रेतीले तट पर पहुँचा परन्तु पानी के निकट पहुँचते ही गोरा किसी चीज को देखकर सहसा चौंक उठा। उसके पैर क्रिया शून्य हो गये। गाड़ी रुक गई।

जीवन फिर से काँप उठा। डरते डरते खोह में से उसने अपना मुँह बाहर निकाला। नाले की ओर देखते ही उसके होश गुम हो गये। उसने देखा—उत्तर की ओर गड्डे से करीब २० गज दूर ही, एक बड़ा सा शेर खड़ा है और वह गड्डे की ओर देखकर गुर्रा रहा है।

अगले ही क्षण शेर बड़ी जोर से गरज उठा। उसकी गरज समीपस्थित पहाड़ी के साथ टकराकर गूँज उठी। पास के जंगल में फिर से सन्नाटा छा गया।

जीवन उसी प्रकार अनिमेष नेत्रों से शेर की तरफ देखता रहा। परन्तु शेर ने अभी तक उसकी तरफ नहीं देखा था, वह गोरा के श्वेत-श्वेत और मोटे-ताजे जिस्म को देखकर गुर्रा रहा

था। शेर की भयंकर गरज सुनकर गोरा काँप उठा। वह बड़े करुण स्वर में चिल्लाया—बाँ ! बाँ !!

इसी समय शेर धीरे-धीरे, बड़ी शान से कदम बढ़ाता हुआ गोरा की तरफ बढ़ा। जीवन इस समय भी खोह से गर्दन बाहर निकाले रख कर शेर की ओर देख रहा था। यदि वह अब भी चाहता तो खोह में छिपकर अपनी जान बचा सकता था।

शेर को अपनी तरफ बढ़ता हुआ देखकर वह अबोध जानवर अत्यधिक करुण-स्वर में फिर चिल्लाया—'बाँ ! बाँ ! !'

गोरा का यह करुण-स्वर सुनकर जीवन सहसा विचलित हो उठा। उसे स्मरण आया—आज से दो वर्ष पूर्व गोरा की यही करुण 'बाँ' 'बाँ' सुनकर ही मैंने उसकी गीदड़ों से रक्षा की थी, क्या आज मैं उसे शेर के मुँह से नहीं बचा सकता ?

जीवन कूदकर गोरा की पीठ पर लिपट गया। अगले ही क्षण में वह शेर एक बार फिर बड़े जोर से गरज कर गोरा पर झपटा, परन्तु उसके तेज नाखून गोरा के भरे हुए शरीर में न धँसकर जीवन की सूखी हुई पीठ में जा धँसे।

शेर ने इसी शिकार को पर्याप्त समझा। वह दरिद्र परन्तु आश्रितवत्सल जीवन की पवित्र देह को लेकर जंगल में प्रविष्ट हो गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल जीवन के रिश्तेदार उसे ढूँढ़ते हुए वहाँ पहुँचे। गोरा अब भी उसी तरह निश्चल भाव से खड़ा था। गड्ढे की खोह के ऊपर जीवन की मैली चादर अब भी उसी तरह फैली हुई थी। गोरे की पीठ पर खून के बड़े बड़े

दाग और रेत पर शेर के पंजों के बड़े बड़े निशान देखकर उन्हें सारी घटना समझने में देर न लगी।

❀ ❀ ❀ ❀

जीवन का यह आत्म-बलिदान आस पास के सब गाँवों में प्रसिद्ध है। लोग उसका नाम बड़ी श्रद्धा से लेते हैं। गोरा आज भी जीवित है, परन्तु अब वह उतना मजबूत नहीं रहा। लोग कहते हैं कि स्वामी के शोक में वह प्रति दिन घुलता चला जा रहा है। लखपतराय भी अपने व्यवहार पर शर्मिंदा है। उस दिन के बाद से फिर कभी उसने गोरा के लिए आग्रह नहीं किया।

—:o:—

(१८)

शालिग्राम

[राजनाथ पांडेय]

१

शायद उनका नाम कुछ और था, पर थाना-पुलिस, हाकिम-हुक्काम, अदालत-कचहरी में उनका 'शालिग्राम' नाम ही सरनाम था। वे गले में शालग्राम की बटिया लटकाये रहा करते थे। सम्भवतः इसीसे लोग उन्हें 'शालिग्राम' पुकारते थे। उनके मस्तक पर पगड़ी से सदा-विमर्दित जटा और मुख-मंडल पर फूले कास की तरह सफेद दाढ़ी निरन्तर लहराती थी। वे महीने में केवल दस दिन घर पर रहते, बाकी बीस दिन कचहरी और कचहरी-यात्रा में बीतते। उस समय, जब का यह वर्णन है, वय में वे बासठ वर्ष के थे।

ऊँचे कद, गोरे वर्ण, प्रशस्त मस्तक, चंदन की रेखाओं, मोती-जैसे चमकते दाँतों, पतले-पतले ओठ और बोलने में ठनकते स्वर-सहित शब्दों के शुद्ध उच्चारण तथा बीच-बीच में संस्कृत के श्लोकों से उनकी वाणी को वह अद्भुत् प्रभाव मिला था जिसके कारण उनकी बात पर सहसा किसी को अविश्वास नहीं हो सकता था। इसी से उन्हें अदालती कामों में बहुत सफलता

मिली थी। जवानी में बहुत वर्षों तक उन्होंने किसी सजातीय जमींदार की नौकरी की थी और अपनी अदालती अनभिज्ञता तथा भव्य डील-डौल से उसका ऐश्वर्य पर्याप्त बढ़ा दिया था; पर पिछले दस-पन्द्रह वर्षों से—जब से उन्होंने निजी सम्पत्ति बढ़ाने की अतिशय लोलुपता के कारण अपनी बची-खुची सात्विकता को एकदम तिलांजलि देकर अपने प्रभाव और नेकनामी का दुरुपयोग करके लोगों को त्रास देना आरंभ किया था, तब से—वे लोक की आँखों में गिर गये थे।

पड़ोसी-पड़ोसी, भाई-भाई, चचा-भतीजा, सास-पतोहू, देवर भौजाई, और कभी-कभी पति-पत्नी तक में वे चाहते तो आसानी से कलह रोप देते। पुलिसवालों से उनकी बड़ी सगाई थी। दो आदमियों में फूट होते ही वे एक का पक्ष ग्रहण कर लेते और उसके लिए अदालत से सच का झूठ और झूठ का सच करा लिया करते। कभी-कभी अकस्मात पहले पक्ष का साथ छोड़ दूसरे दल का साथ देने लगते और उसे आगे लड़ने में रुपये की मदद भी देते पर अन्त में उसकी सारी जमीन अपने नाम लिखा लेते। प्रायः लावारिस लोगों को अपने यहाँ आश्रय देकर उनमें बुरी से बुरी लतें डाल देते और उनकी सम्पत्ति अपने नाम कराके अदालत से उस पर कब्जा कर लेते। अक्सर गरीबों को थोड़ा रुपया देकर सादे कागज पर रसीदी टिकट के ऊपर उनके अँगूठे का निशान ले लेते और बाद में उसमें मनमानी रकम भरकर उन पर दावा करते—उनका सब कुछ हड़प लेते।

पिछले दो वर्षों में पास-पड़ोस के गाँवों में तीन हत्याएँ हुईं पर उनमें से एक के भी अपराधियों को दंड नहीं मिल पाया। लोग निधड़क यह कह देते कि शालिग्राम ही की मदद से सब

अपराधी छूट गये थे। कुछ लोग तो दबी जबान से यहाँ तक कहते थे कि इन हत्याओं में उनका भी इशारा था !

२

कुआर और कातिक की पुष्ट सिहरी हुई धरती ने बीज के दानों को अपने गर्भ में धारण करके जो बिरवे उगाये थे, पूस और माघ में शिशिर के शीत को पाकर वे डिढाये और मतवाली फगुनहट का रस लेकर वे पोढ़ दानों से भर गये थे ! इसलिए जिन किसानों ने परिश्रम से जुताई-बोवाई करके अपनी खेती भले प्रकार सींची थी वे खेत के डाँड़ों पर खड़ा होते ही वसन्त की समस्त श्री बटोरने वाली कोयल से भी अधिक मस्त होकर गा उठते थे। उस साल आम भी खूब बौरे थे और मधूक-वृक्षों से मोती-जैसे सफेद मीठे फूल रात भर चू-चूकर नीचे की सारी भूमि पाटे डाल रहे थे पर जिन अभागों के बाप-दादों के खेत नीलाम पर चढ़े थे, वे उन खेतों के डाँड़ों पर लोगों की आँखें बचाकर कभी जा पड़ते, तो उन्हें ऐसा लगता था मानो उनकी छाती पर साँप लोट रहा हो, और जिनके मधूक-वृक्ष अपने न रहे थे वे यदि रात में उस तरफ से निकलते तो महुए के धरती पर गिरने का टप् टप् उनके कानों में उतनी ही पीड़ा पहुँचाता जितनी पीड़ा उन वृक्षों के नीचे फिरने वाले सर्प को सिर पर उन फूलों के गिरने से होती थी !

उस आनन्ददायक वसन्त-ऋतु में भी मढ़ूपुर के जिन चार प्राणियों को चैन न थी उनमें से एक तो बाभन थे और बाकी तीन में से एक अहीर, दूसरा केवट और तीसरा गोसाईं था। पहले ने उन तीनों में से किसी का फसल से भरा खेत, किसी के आम और महुए और किसी के खेत और बारी दोनों ही अपना बनाने के उद्देश्य से अदालत में बझा रखे थे।

वे बिचारे जाड़े की ठिठुराती कठिन आधीरात ही में अपने गाँव से कई कोस उबेने पैर पैदल चलकर सबेरे लारी वाली सड़क पर पहुँचते और वहाँ से कचहरी जाते। दिन भर बिना खाये-पीये कचहरी में भटकने के बाद शाम को फिर लारी से वापस आते और आधी रात तक पैदल चलकर अपने-अपने घर पहुँचते। वे ऐसे दिन थे जब मुर्दों के लिए कफ्फन मिलना भी कठिन था, इसलिए उनके शरीर वस्त्र के नाम पर केवल कुछ चिथड़ों ही से ढँके होते थे। उन्हें हर पेशी पर कम से कम तीन रुपये जुटाने ही पड़ते थे। उधर गाँव में कठिनाई से यदि कोई उनकी ओर से गवाही करने को तैयार होता भी था तो वह जाड़े की रात की ठंढ से बचने के लिए तारीख के पहले ही पनही या खोल लेकर ही घर से बाहर पैर बढ़ाने का प्रस्ताव रखता था। कचहरी का हाल यह था कि अक्सर मुकदमा पेशी में पड़ जाता था। अक्सर हाकिम दो बजे के पहले नहीं आता था जिससे अनेक मुकदमों में बिना पुकार हुए ही तारीख पड़ जाती थी। जिस दिन मुकदमा पेशी में पड़ जाता, बिचारों को तीन तीन दिन तक बिना अन्न के रह जाना पड़ता था!

कुआर में खेतों की बोआई आरम्भ होते ही मुकदमे छिड़े थे और कातिक, अगहन, पूस तथा माघ भर चलते रहे। इस बीच अहीर की एकमात्र भैंस, जिसके दूध की बिक्री से उसके कुटुम्ब का पालन हो रहा था, एक बार जब उसका मुकदमा पेशी में पड़ा था, दरवाजे पर खूँटे से बँधी-बँधी गुम हो गई और उसे उसका पता तब लगा जब 'कानीहौज' के मुंशी के दामाद के हाथ वह पन्द्रह रुपये पर नीलाम हो गई! इसी बीच केवट की मँड़ई में अनायास एक रात आग लग गई, जिससे उसके यहाँ रखा बिरादरी का टाट जल गया और

अपने को छोड़ बाकी सब पंचों के मना करने पर भी उसने लाख उपाय करके पैंतीस रुपये में नया खरीद कर उसकी जगह दूसरा नया टाट रख दिया। और, गोसाईं महराज की एकमात्र सन्तान उनकी जवान विधवा कन्या न जाने कहाँ चली गई !

जाड़े का अन्त होते-होते उनके मुकदमों का भी अन्त हो गया। शालिग्राम की उन तीनों पर डिग्री हो गई ! तब आपसी वैमनस्य छोड़कर वे अभागे इकट्ठे बैठने लगे। कभी-कभी वे इकट्ठे बैठकर बातें करते और सारी की सारी रात बीत जाती पर क्या करना चाहिए—इसका कोई निर्णय न कर पाते।

किसी-किसी ने गोसाईं महराज को यह कहते सुना कि जीविका जीव के संग जाती है और जीते-जी वे किसी को अपनी जीविका न लेने देंगे। किन्तु शालिग्राम पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। उनसे अगर कोई कभी इशारे से कुछ कहता तो वे हँसकर कहते—

जाको राखे साइयाँ, मारि सकै नहिं कोय।
बार न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय !

३

मझूपुर में न जाने कितने दिनों बाद, वह एक रात जिन चार आदमियों के लिए दिल दहला देनेवाली बनकर आई थी, उनमें से एक वह बाभन थे, जो दूसरे दिन अपने तीन-तीन जीते हुए मुकदमों की डिगरियाँ इजराय कराने कचहरी जाने वाले थे और बाकी तीन वही अहीर, वही केवट और वही गोसाईं थे। बाभन महराज ने शाम होते ही भोजन करके चारपाई बिछवाई और सोचा कि आधी रात तक नींद का सुख लेकर रात रहे ही उठेंगे और सबेरा होते-होते लारीवाली

सड़क पर पहुँचकर पहली ही लारी से शहर पहुँच जायँगे। उधर उन तीनों अभागों को कई रात से नींद नहीं आई थी, इसलिए उन्हें उस रात भी नींद लाने वाली शान्ति न होने से सोने की सुधि नहीं थी। वे तीनों आधी रात इकट्ठा बात करते रहे, और जब चल पड़ने का निश्चय करके अपनी-अपनी खाट पर से लाठियाँ लेने गये, तो कोई बैठे ही बैठे और कोई कमर सीधी कर लेने के लिए खाट पर पैर फैलाते ही निद्राभिभूत हो गये। और, जब उनकी नींद खुली तो उन्हें प्रातःकाल के आगमन की सूचना देने वाली तेलिन चिरई की अत्यन्त शान्तिदायिनी 'ठाकुरजी ! ठाकुरजी' की रटन सुनाई पड़ रही थी! उधर बाभन महराज को लाख प्रयत्न करने पर भी नींद नहीं आई थी, अतः आकाश की ओर देख शुक्रतारा की स्थिति से आधी रात शेष रहने का अनुमान करके चारपाई छोड़कर चले थे !

गाँव के बाहर इकट्ठा होकर उन तीनों ने सलाह की और लगे दौड़ने। गोसाईं ने अहीर और केवट को बढ़ावा देते हुए कहा कि अब यह रात जिन्दगी में फिर नहीं मिलेगी, जो बढ़ गया वह बढ़ जायगा !—जो पिछड़ गया वह पिछड़ जायगा !

बस्ती को बराते हुए वे खेत-बारी, वन, ताल और बाहा-खंदक को पार करते हुए कई मील दौड़ते चले गये !

उधर शालिग्राम न जाने कितने दिनों के बाद रात भर जगे थे, इससे उनके पैर जल्दी-जल्दी नहीं उठ रहे थे। जैसे उनके एक-एक पैर में एक-एक पंसेरी बाँधी गई हो ! इसीसे जब प्रातःकाल निकट था, वे पलाशों के उस वन में ही पहुँच पाये जिसके आस-पास मीलों तक कोई बस्ती नहीं थी और जिसके मध्य में वही

पुराना पोखर था, जो वर्ष में एक जीव जरूर लेता था, और जिसके भीटों पर खड़े आम और महुए के विशाल वृक्षों पर—जनमत के अनुसार—कभी-कभी दिन ही में प्रेत खेला करते थे ! उस वृद्ध थके पथिक ने वहाँ कुछ देर रुककर विश्राम कर लेना चाहा ।

वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गया और बैठते ही उसकी पलकें ढँप गईं । फिर उसने एक सपना देखा । ऐसा भयानक सपना उसने जीवन में पहले कभी न देखा था । उसे उस एक ही स्वप्न में एक ही क्षण में अतीत की—काशी, प्रयाग और अयोध्या की, भिन्न भिन्न युगों की—बड़ी ही विचित्र घटनाएँ दिखाई पड़ीं । उसने देखा कि वह किसी पुरातन युग में काशी का अहीर है और एक निर्धन ब्राह्मण के टूटे मकान पर गायें बाँध-बाँधकर उसके खँडहर तथा दो गायों पर कब्जा कर लेता है । अन्त में वह ब्राह्मण उस जमीन पर बैठकर अनशन करता है और दूसरे दिन वह उसे वहाँ से हटा देने के लिए इतने जोर से धकेल देता है कि उसके प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं । पलक मारते ही दृश्य बदलता है और इस बार उसने प्रयाग में केवट के घर जन्म लिया है । गोरखपुर के कोई ब्राह्मण जमींदार कल्पवास करने प्रयाग में संगम पर टिके हुए हैं । वह केवट रात में उन जमींदार को मलाई में जहर देकर मार डालने के बाद उनकी कुटिया में अपनी चिलम की आग डाल कर उन्हें भस्म कर डालता है । फिर तीसरे पल में दृश्य अयोध्या का है, जहाँ वह गोसाईं होकर जनमा है और एक ब्राह्मण की विधवा कन्या को भगा ले जाता है जिससे उसका वृद्ध पिता सरजू में डूबकर आत्महत्या कर लेता है ।

अन्तिम दृश्य को देखते ही उसका दिल धड़क गया । उसने

पहचान लिया कि सरजू में डूबकर प्राण तजने वाला वह ब्राह्मण अन्य कोई नहीं, आज का उसका प्रतिवादी गोसाईं ही था और वह स्वयं अयोध्या का वह गोसाईं था जिसने ब्राह्मण की विधवा कन्या भगाई थी ! उसकी आँख खुल गई। उसने देखा कि वह ऊपर से नीचे तक पसीने में नहा उठा था। आँख खुल जाने पर भी वही स्वप्न अब भी उसके सामने नाच रहा था ! अब चेतनता के कुछ स्थिर होने पर उसे स्मरण हो आया कि स्वप्न में काशी में अहीर और प्रयाग में केवट के घर जन्म लेकर पुरातन युग में वह जिन दो ब्राह्मणों की हत्या कर चुका है, वे ही आज उसके विरोधी वह अहीर और वह केवट होकर जनमे हैं, और अपने प्राचीनकाल के तीन-तीन महाशत्रुओं को इस जीवन में इस प्रकार एकत्र हुआ सोचते ही उसके हाड़ काँप उठे !

४

उस पलाश-वन के पास पहुँचते-पहुँचते वे तीनों साथी, जो एक साथ दौड़ते हुए चले थे, मन्द पड़ गये। सूर्योदय का समय भी निकट आ रहा था। उसी समय शिवफेर गोसाईं ने, जो टोह लेने पोखर के भीट पर चढ़ गये थे, अपने साथियों को सचेत किया। पलक मारते ही उन तीनों ने उस पेड़ को घेर लिया, जिसके नीचे बैठा हुआ वह बूढ़ा अपने विगत जीवन की क्रूरताओं का सपना देख रहा था ! वे तीनों उसे दाँत पीसते हुए क्रोध से घूरने लगे; पर अपने शत्रुओं को इस प्रकार सन्नद्ध देखकर भी वह वहाँ से तिरस्कार में चल देने के लिए न उठ सका, और न कुछ बोल ही सका। उसकी उस आकस्मिक तेजहीनता ने उन तीनों को क्षण-भर के लिए असमंजस

में डाल दिया। पर असमंजस स्थायी न बन सका। गोसाईं ने अपने साथियों को ललकारा और लाठी से पहला वार स्वयं किया। तब वह बूढ़ा झट उठ खड़ा हुआ और बोला—'खबरदार! पहले हमसे दो बात कर लो, फिर जो कुछ अच्छा लगे, करना!'

"क्या बात करते हो?"—गोसाईं ने कड़ककर पूछा।

"तुम चाहते क्या हो!"

"क्या तुम समझ नहीं रहे हो? हम लोग आज तुम्हें हलाल करने आये हैं!"

"अच्छा तो तुम्हें कसम है, घायल करके मत छोड़ जाना, प्राण ही लेकर जाना! पर किस तरह मारोगे मुझे?"

"तुम्हारे ऐसे अधमों के लिए दो लाठियाँ ही काफी हैं, पर हमारे पास तो तीन हैं!"

"अच्छा तो दस मिनिट का समय शालिग्राम के स्नान के लिए दे दो और जब मैं नीचे के पोखर से लौट आऊँ तो तुम मेरा प्राण ले लेना!"

गोसाईं ने स्वीकार कर लिया।

तालाब से निकल भागने के जितने रास्ते थे उन सब पर नजर रखने के लिए वे तीनों छिटक गये और भीटों में छिपकर शालिग्राम की चौकसी करने लगे।

शालिग्राम ने तालाब के किनारे पहुँचकर अपना कचहरी का बस्ता रख दिया। फिर गले में बँधे शालिग्राम को निकाला। फिर कमर-भर जल में चले गये। फिर हाथ में शालिग्राम को लेकर ऊपर उठाया और विलाप के स्वर में जोर-जोर से कहने

लगे—"क्या शालिग्राम! हमने जीवन-भर तुम्हारी सेवा इसी दिन के लिए की थी? बोलो न!" फिर बिलपना बन्द करके यों बोले—"हाँ, तब यह क्यों नहीं कहते कि तुम्हारी भी यही इच्छा है कि इस सूने वन में भगवान सूर्य का दर्शन मिलने के पहले ही एक लाठी ऊपर और एक लाठी नीचे और बीच में मेरी गरदन दबाकर मेरी लाश तड़पा दी जाय?"..... "क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आखिर कौन-सा ऐसा पाप मैंने किया था जो यह सब हो रहा?" ....."तो अगर पिछले तीन जन्मों में मैंने इनको मारा था, तो उचित तो यह था कि ये तीनों भी अलग-अलग तीन जन्मों में मुझे मारते!"....."अच्छा! यह बात है! तब तो भगवन्! यह तुम्हारी कृपा ही है जो एक ही जन्म में तुम मेरे तीन जन्मों का उद्धार किये दे रहे हो!'

फिर स्नान करके गले में शालिग्राम को बाँध, कचहरी का बस्ता बगल में दबाये, शालिग्राम धीरे-धीरे चढ़कर ऊपर भींटे पर आये और उसी मधूक-वृक्ष के नीचे चुपचाप बैठ गये। उसी क्षण शिवफेर गोसाईं, गोटई अहीर और पलटू केवट भी सामने आ खड़े हुए। शालिग्राम ने कहा—"अब देर मत करो! तुम्हें जो करना है, जल्दी करो!"

इस बार शालिग्राम के स्वर में पहले-जैसी दीनता नहीं, वरन दृढ़ता थी। उन तीनों ने सुना था कि स्नान करते समय किसी से वार्त्तालाप हो रहा था। वे विस्मय में पड़े हुए थे। गोसाईं ने कहा—"पहले तुमको यह बताना होगा कि तुम किससे बातें कर रहे थे और क्या बातें कर रहे थे?"

"तुमसे मतलब! तुम अपना काम करो!" शालिग्राम ने डाँटकर कहा।

"हम तब तक तुम्हें नहीं हटेंगे जब तक तुम यह बतला नहीं दोगे।"

"तो यह तो हम नहीं ही बतलायेंगे।"

गोसाईं अपने साथियों का मुँह ताकने लगा। तब गोटई ने आगे बढ़कर जमीन पर अपनी लाठी जमाकर रखी और केवट के हाथ से उसकी लाठी लेकर पास ही अलग रखते हुए ललकारकर गोसाईं से कहा—"खींच लाओ उस पाखंडी को इधर और जमीन पर पटककर मेरी लाठी पर उसकी गरदन रखो!" पर न गोसाईं ही आगे बढ़ा और न केवट ही। केवट ने धीरे से कहा—"गोटई! समझ-बूझकर आग में कूदो!"

"गोटई जब आग में कूदते हैं तो समझना-बूझना दूसरों के लिए छोड़ देते हैं। तुम सबने महाबीरजी के थान पर किरिया खाई थी, पर अब तुम हट रहे हो। तुम लोग भले ही हट जाओ, पर मैं शालिग्राम की लोथ मिट्टी में साने बिना नहीं जाऊँगा।"

"नहीं गोटई! तनिक ठहर जाओ। यह प्रेत किसीसे बात कर रहा था! कोई सबूत तैयार कर रहा था।"—शिवफेर गोसाईं ने कहा।

"तुम्हें यह कहते लाज नहीं आती? गिद्ध-जैसे तुम सब भीटे पर बैठे हुए थे, फिर भी कोई आ गया और हमसे बातें कीं और तुम्हारी आँखों में धूल डालकर कहीं चला भी गया?"

"तब महराज! तुम बतला किससे रहे थे?"—केवट ने पूछा।

"और किससे बतलाएँगे भगत ? शालिग्राम को छोड़ और हमारा कौन है ?"

"तो क्या शालिग्राम तुमसे बोले थे !

शालिग्राम ने मौन से उत्तर दिया। आँखें बन्द करके गले में लटकते हुए शालिग्राम को दोनों हाथों में रखकर मस्तक से लगाया !

"क्या बोले थे शालिग्राम ?"—गोसाईं ने पूछा।

तब शालिग्राम बोले—"जब शालिग्राम से हमने रो-रोकर कहा कि भगवन् ! क्या इसी दिन के लिए हमने जिन्दगी-भर आपकी पूजा की थी, तब उन्होंने हमसे कहा—'शालिग्राम ! संसार में कोई आदमी हत्या उसी की करता है जो पहले उसकी हत्या किये रहता है। पिछले तीन जन्मों में तुमने काशी, प्रयाग और अयोध्या में अहीर, केवट और गोसाईं के घर जन्म लेकर इन तीनों की—जो तब ब्राह्मण थे—हत्या की है। अब इस जन्म में ये लोग अहीर, केवट और गोसाईं होकर जनमे हैं और तुम ब्राह्मण हुए हो। इस जन्म में ये लोग तुमसे बदला लेने आये हैं। हमने तुम पर यह बड़ी दया की है जो तीनों को एक ही जन्म में इकट्ठा कर दिया है। अब तुम इसी में अपनी भलाई समझो और इन तीनों को अपना प्राण हर लेने दो।"

अहीर, केवट और गोसाईं—तीनों एक दूसरे का मुँह देखने लगे ! छन-भर बाद पलटू केवट बोला—"क्यों भाई शिवफेरे ! जब हमने किसी जन्म में इनका खून किया होगा तभी न इन्होंने पुराने जन्म में हमारा खून किया होगा ?"

"ऐसा ही तो जान पड़ता है !"

"और आज जो हम लोग इनका खून करेंगे तो आगे के जन्म में हमसे बदला लेने के लिए ये फिर हमारा खून करेंगे ?"

"जरूर"—गोसाईं ने कहा।

"तो आओ न, हम इन्हें छोड़ दें ! हम इनका खून न करें जिससे आगे ये भी हमारा खून न कर सकें !"

शिवफेर गोसाईं और पलटू केवट गोटई अहीर की ओर देखने लगे। गोटई चुप होकर जमीन की ओर देखने लगा। तब शिवफेर गोसाईं ने कहा—"ठीक है !"

उसी समय शालिग्राम गुरु ने झट आँखें खोल दीं। काँख में दबा कचहरी का बस्ता उनके सामने फेंकते हुए बोले—"जो ऐसी बात है तो लो, तुम लोग अपनी-अपनी डिग्री निकाल लो, मैं भरपाई लिखे देता हूँ।"

गोसाईं ने झटपट बस्ता खोलकर तीनों की डिगरियाँ निकालीं और शालिग्राम ने पेन्सिल से तीनों पर भरपाई लिख दीं। फिर बोले—"अब जाओ, तुम लोग अपना-अपना खेत काटो, अपना महुआ बीनो, और अपने पेड़ों का आम तोड़ो-खाओ। हमको तुम्हारी किसी चीज से सरोकार नहीं है।" फिर बाकी कागजों की ओर इशारा करके बोले—"पलटू भगत ! बीड़ी पीते हो न ? अब इस पाप की गठरी को भी दियासलाई की एक काँड़ी देकर भस्म कर डालो। मैं अब कभी कचहरी का मुँह नहीं देखना चाहता !"

पलटू ने कागजों के बस्ते में आग लगा दी।

× × ×

अपने तीनों पड़ोसियों के साथ जाकर शालिग्राम ने पुनः उस पुष्कर में स्नान किया, और वे चारों अपने तन और मन की मैल धोकर बाहर आये। फिर उन्होंने उस मधूक-वृक्ष के नीचे रात-भर गिरे उसके मधुर फूलों में से दो-दो चार-चार लेकर खाया और कुएँ पर जाकर पानी पिया। फिर आगे-आगे शालिग्रामजी और पीछे-पीछे उनके तीनों पड़ोसी धीरे-धीरे अपने ग्राम को इस प्रकार लौट गये जिस प्रकार दिन भर बढ़ी हुई नदी का वेग कम होने पर चारों ओर फैला पानी रात में धीरे-धीरे नदी के गर्भ में लौट जाता है !

—: ❀ :—

(१६)

सोना

[श्री नर्मदाप्रसाद खरे]

सोना अपने को सुहागवती कहती; परन्तु वह सदा विधवा-सी दिखाई देती—अपने में भूली, अत्यन्त नीरस और उदास। उसके मुख पर एक पल को भी हँसी न उतर पाती। यदि कभी बाबू दीनदयाल की तीन, साढ़े तीन साल की लड़की आशा की तोतली बातें सुनकर वह हँसती भी, तो उसमें उसके भीतर का हाहाकार छिपा रहता। प्राणों में सदा एक ज्वालामुखी जागता रहता—जो उसके रोम-रोम को अधीर बनाये रखता। वह उजड़ी हुई वाटिका-सी अत्यन्त म्लान और दीन दिखाई देती।

सोना की उमर अभी ऐसी न थी कि वह अपने को संन्यासिनी कह सके। उसके मन ने ही संन्यास ले लिया रहा हो; परन्तु उसकी उमर अभी ऐसी न थी कि वह अपने को संन्यासिनी कह सकती। किसी के भी घर बैठकर वह उसे निहाल कर देती; परन्तु उसके भीतर की भूख सदा के लिए बुझ-सी गयी थी। उसने जीवन के थोड़े से दिनों में अपने स्वामी से जो पुजापा पाया था, उसे जो मान और सत्कार मिला था—

वही उसके लिए सब था। वह उसे पाकर ही अपने आप में इतनी सन्तुष्ट और परिपूर्ण थी कि आज छः वर्ष से अकेली रहकर भी उसने कभी किसी को मोह भरी दृष्टि से नहीं देखा। और न अपने मन में प्रिय-दर्शन की लालसा को छोड़कर अन्य किसी आकांक्षा को ठहरने ही दिया।

बाबू दीनदयाल ने सोना को पहिले भी कई बार अपने घर आते-जाते देखा था। परन्तु उन्होंने कभी उसकी हुलिया जानने-बूझने की न तो स्वयं चेष्टा की और न उसके सम्बन्ध में किसी से कुछ पूछा ही। एक दिन जब वे, पन्द्रह-बीस दिन के बाद दौरे से लौटे तो देखते हैं कि आशा सोना से बड़े घुल-घुलकर बातें कर रही है और उसकी गोद में ऐसी सिमिट-कर बैठी है—जैसे वही उसकी सगी माँ हो। सोना भी उसे मना—पथाकर ऐसी दूध पिला रही है—जैसे आशा उसी की कोख से जनमी है—अपना खून सींच-सींच कर ही मानो उसने उसे इतना बड़ा किया है। दीनदयाल कल की अपरिचित नारी को आज अपने परिवार के इतने निकट देखकर, मन ही मन बहुत प्रसन्न हुए। सोना के सहज मातृत्व को देखकर उनका रोम-रोम पुलकायमान हो उठा। आशा और सोना की ममत्व भरी तोतली बातें सुनकर दीनदयाल बाबू की आँखों में अपनी स्वर्गीय पत्नी का मुँह क्षण भर झूला, और वे अधीर भी हुए। परन्तु कुछ ही देर में उन्होंने अपने आपको सँभाल लिया। वे आँसू पोंछते हुए आशा के पास दौड़े हुए गये और उसे अपनी गोद में उठा, उसके गालों पर चुम्बनों की झड़ी लगा दी। सोना यह देखकर गदगद हो गयी और उसका मन भारी हो आया। वह सोचने लगी—यदि आज मैं भी 'बड़भागन हो, पूतों फली होती, तो…'।

बाबू दीनदयाल ने देखा सोना तो अब उन्हीं के घर में रहती है। माँ जी ने उसे एक छोटी कोठरी दे रखी है। जिसमें जाकर वह दो मुट्ठी चावल उबाल, अपने पेट में डाल लेती है और फिर आकर आशा में उलझ जाती है। न तो उसे आशा से छुट्टी है और न आशा को उससे। जब तक आशा जागती है तब तक सोना उसमें भूली रहती है। उसके बाद घर की देख-रेख बासन-चौका, कपड़े-लत्ते सीना-पुरोना और टहल—सभी कुछ वही सँभालती है। बूढ़ी माँ जी ने उसे पाकर जैसे सभी कामों से हाथ खींच लिया है। अब वे अत्यन्त निश्चिन्त और सुखी हैं। दिन प्रति दिन उनकी स्वाभाविक चिड़चिड़ाहट भी उनसे दूर होती चली जा रही है। अपने उजड़े हुए घर की पुनः सुव्यवस्था देखकर बाबू दीनदयाल भीतर ही भीतर हर्षातिरेक से खिल उठे।

धीरे-धीरे, कुछ दिनों के बाद, बाबू दीनदयाल को अपनी माँ जी से मालूम हुआ—बेचारी सोना आफत की मारी है। माँ-बाप बचपन में ही इसे अकेली छोड़ चल बसे। काका ने पाल-पोसकर बड़ा किया और फिर उन्होंने उसके पीले हाथ भी किये। सोना बहू बनकर जिस घर में आयी वह इसके योग्य था नहीं। एक मनचले, कुटेवी लड़के के गले यह बाँध दी गयी, जो पन्द्रह दिन भी इसे आराम से न खिला सका। अभागिनी सोना को अपनी हलदी लगी देह को ही मजदूरी में झोंकना पड़ा। सोना स्वयं अपने और स्वामी के पेट के लिए कमाकर लाती। इसी प्रकार कुछ दिन नये जीवन के बीते। सोना अपने इस जीवन से ही परितुष्ट थी—उसके मन में किसी प्रकार का खेद और पछतावा न था। दिन भर एँड़ी चोटी का पसीना एक करती। थकी-माँदी घर लौटकर आती तो देखती कि उसके

देवता दिन भर से ताड़ी के नशे में बेसुध पड़े हैं। उनकी सेवा-शुश्रूषा में व्यस्त हो जाती। यदि इसी बीच गाली-गलौज और मार-पीट हो जाती तो उसे भी चुपचाप खून के घूँट पीकर सहन करती। एक प्रहर रात बीतने पर कहीं इसके पेट में अन्न पहुँच पाता। पर सोना अपने इसी जीवन में भूली रहती तथा सदा ऐसा प्रयत्न करती जिससे उसके स्वामी को कभी किसी अभाव का अनुभव न हो।

सोना का स्वामी ऐसी भली औरत पाकर भी अपने भीतर न रहा। उसे सोना की स्वामि-भक्ति और सरलता पर तनिक भी तरस न आया। एक दिन वह भले घर की विधवा को लेकर न जाने कहाँ भाग गया। आज उसे घर से निकले पूरे छः वर्ष होते आते हैं, परन्तु उसका कहीं कोई पता नहीं। पति कहलाने वाला पुरुष असहाय नारी को चाहे भूल गया हो, परन्तु सोना अब भी उसी के नाम पर जी रही है और उसका नाम लेकर ही अपने को सुहागवती कहती है।

बाबू दीनदयाल पुलिस इंस्पेक्टर हैं। महीने में पन्द्रह दिन से अधिक दौरे पर रहते हैं। उन दिनों बाबू साहब दौरे पर थे। घर में अकेली माँ जी थीं। इस बीच बाबू साहब के एक सम्बन्धी आकर उनके घर ठहरे। वे घर में सोना की पैठ देखकर भीतर ही भीतर झुँझलाये, खीझे और अपना मन खट्टा करते हुए माँ जी से बोले—'परायी स्त्री का हमारे घर में इस प्रकार रहना अच्छा नहीं। यदि आज आशा की माँ होती—तो किसी के अँगुली उठाने तक की हिम्मत न होती, परन्तु सूना घर देख कर हर कोई अपने मन की उचित अनुचित सभी प्रकार की बातें कहकर हमारे सिर पर कलङ्क का टीका मढ़ सकता है, इसलिए हमें सोच-समझ कर चलना चाहिये। फिर तुमने तो

दुनिया देखी है—बूढ़ी-पुरानी हो, सब समझती हो।' माँ जी यह सुनकर अनमनी हो गयीं। इस सम्बन्ध में कुछ सवाल जवाब भी हुए; परन्तु उन्हें अन्त में मुँह की खाकर रह जाना पड़ा। ये सब बातें सोना से छिप कर हुई थीं। परन्तु उसके कानों में इन सबकी भनक पड़ ही तो गयी।

दो-चार दिन के बाद पाहुने चले गये। माँ जी अब कुछ उदास रहतीं—सदा उनका मन कुछ गिरा-गिरा सा रहता। हृदय में एक टीस पैदा होती। वे उसका बहुत प्रकार से उपचार करतीं मन की व्यथा को जी में बहुत नीचे गाड़कर निश्चिंत रहने का उपक्रम करतीं; परस्तु सदा निराशा ही हाथ आती। लाख सोचने विचारने पर जब कुछ भी हाथ न आता, तो मन मानकर बैठ जातीं और इस प्रयत्न में रहतीं कि उनकी उदासी किसी प्रकार सोना पर प्रकट न हो।

इधर सोना ने जब से ये सब बातें सुनीं और माँ जी में भी कुछ परिवर्तन देखा, तब से वह अपने काबू में न थी। उसके सामने अपने मान-अपमान, रोष-क्षोभ की बात तो न आती, परन्तु दीनदयाल बाबू की परिस्थिति का ध्यान आते ही उसका जी रो उठता, तन-मन की सारी शक्तियाँ सो-सी जातीं। इन थोड़े दिनों में ही आशा और माँ जी से, उसका युगों कासा जो घनिष्ठ ममत्व फैल और पनप चुका है, वही बार-बार उसके चित्त को अधीर कर देता। यहाँ आकर जो उसने-सहज ही माँ जी का स्नेह और आशा का दुलार अपने प्राणों से बाँध रखा है, अब उससे मुक्ति कैसे होगी?—यह सब वह कैसे भूलेगी?

अभी सोना के असहाय मन ने एक सहारा पा लिया था। जीवन की चिर-अतृप्ति को वह इस तरह धीरे-धीरे तृप्त कर

लेना चाहती थी। अपने आस-पास फैली विस्तीर्ण शून्यता को इस छोटे से परिवार में समा कर मिटा देना चाहती थी—परन्तु अब तो उसे स्वयं अपना रास्ता खोज कर उसे किनारे लगना है, जहाँ से दीनदयाल बाबू को आँच तक न लगने पावे। वह जानती है कि इस परिवार का विछोह उसके लिए कितना महँगा पड़ेगा। फूल-सी दुधमुँही बच्ची उसके लिये सिसक-सिसक रोयेगी। माँ जी की तो उसके बिना कमर ही टूट जायगी और दीनदयाल बाबू की गृहस्थी पुनः अस्त व्यस्त होकर उजड़ जायगी, परन्तु वह करे क्या ?

एक दिन साँझ को सोना ने अनुभव किया—जैसे बूढ़ी माँ जी उससे कुछ कहना चाहती हैं। परन्तु स्नेह-वश वे कुछ कह नहीं पा रही हैं। धीरे-धीरे सुनहली साँझ श्याम-वर्ण होकर तमोमयी रजनी में परिवर्तित हो गयी। उस दिन सोना ने अधिक रात तक आशा को प्यार किया—छाती से चिपटाया और एक तृष्णा भरी दृष्टि से माँ जी को देखकर अपनी कोठरी में पहुँची। वह वहाँ पहुँच सिसक-सिसक कर रोती हुई सोचने लगी—"मैं जाऊँगी—न चाहते हुए भी यहाँ से चल दूँगी। इतना बड़ा संसार पड़ा है—वहाँ रह लूँगी—परन्तु अब इस घर की छाया भी न छुऊँगी। कल कहाँ थी ? वहीं कहीं किसी नरक सी कोठरी में ही तो जीवन के दिन गिन रही थी। अचानक बीमार पड़ी। माँ जी के पास काम के लिए आयी थी—इसी घर की हो गई। और तब से यह घर, मेरा घर हो गया और युग-युग तक मेरा रहेगा—चाहे मैं जहाँ रहूँ। मेरे प्राण इसी परिवार में रमे रहेंगे। मैं, अपनी तो रही ही नहीं, सदा दूसरों की रही हूँ। 'उनके' चले जाने के बाद यदि मेरा अपना कोई हुआ है—तो यह छोटा परिवार……। मैं चली, हाँ, पर बाबूजी

तो हैं नहीं ! नहीं हैं। न रहने दो उनसे मेरा क्या प्रयोजन ? मुझे आश्रय तो माँ जी ने दिया था—मेरा सम्बन्ध ही आशा और माँ जी से रहा है। बाबू जी के आने की क्या बाट जोहूँ ? भगवान, यह मोह क्यों मन में व्याप रहा है। क्या मैं अपने आपको भीतर ही छलना चाहती हूँ। नहीं कदापि नहीं ...
अब मैं एक पल के लिए भी यहाँ नहीं ठहर सकती—मैं अपने दुर्भाग्य के साथ एक भले आदमी को क्यों कर घसीटूँ ? मैं यह जानती हूँ कि बाबू साहब के सूने में मेरा जाना बहुत अखरेगा—वे मेरे सम्बन्ध में न जाने क्या-क्या सोच डालेंगे। उनका मन है, सोचें, जो उन्हें सोचना हो, मैं क्यों इतनी चिन्ता करूँ ! परन्तु न जाने क्यों मेरा मन बाँधने पर भी बँधता नहीं —उनमें स्थिरता आ नहीं पाती—बार-बार बरबस ही बाबू साहब में जा अटकता है। आज के पहिले तो कभी ऐसा हुआ नहीं फिर इस विदा की बेला में मैं अपने आपको क्यों नहीं सँभाल पा रही हूँ। मेरे मन में अलक्षित यह कुछ उठता है ? काला-काला बादल सा घुमड़ता है। मैं जैसे-जैसे इन विचारों से दूर भागने की चेष्टा करती हूँ, वैसे-वैसे बाबू साहब मेरे सामने खड़े होकर कहने लगतें हैं—'नहीं सोना, ऐसा नहीं हो सकता। तुम मेरे परिवार की हो और अब तुम्हें यहीं रहना पड़ेगा, यहीं तुम्हारा जीवन चुकेगा। मैं तुम्हें एक क्षण को भी नहीं छोड़ सकता—तुम्हारे बिना इस आशा का क्या होगा—' यह सब तो ठीक है। पर आज मेरा मन यह सब सोचने समझने में क्यों उलझा है ? आज के पहले भी तो यह सोचा जा सकता था। न, मैं अपने को खूब जानती हूँ। आज मेरे मन में मोह जाग रहा है। मैं अपने पथ से विमुख हो उस पथ की ओर बढ़ रही हूँ, जो मेरे लिए वर्जित है। मुझे इस ओर बढ़ना होता

तो आज से कितने पहले ही न बढ़ गयी होती ?—कौन मुझे सर-आँखों न लेता ? परन्तु मैंने तो विपदाओं से लड़ाई की है—कठिनाइयों का सामना किया है और सदा अपने 'उनको' ही मन की पूजा अर्पित की है। जब वे मेरे सामने थे तब तथा उसके बाद भी। फिर आज यह कैसे हो सकता है कि मैं क्षणिक आवेग में आकर युग-युग की साधना-आराधना पर पानी फेर कर किसी एक स्थान में अटक जाऊँ ? अपने आपको धोखे में डाल आत्मा की आवाजों पर ताला डालने का प्रयत्न करूँ। न, मुझसे यह न होगा। मैं सदा से प्रकाश की ओर बढ़ी हूँ। सुखद नींद की अपेक्षा मुझे जागरण ही अधिक पसन्द रहा है, इसलिए जब तक जीवन है, बुद्धि है—जागूँगी और मन को भी जगाती रहूँगी। माया मोह को भूलकर भी अपने पास न फटकने दूँगी।

चलूँ। अब एक पल को भी यहाँ न ठहरूँ—फिर कहीं यहीं मेरा मन बँध कर न रह जाय। पर आशा ! एक बार आशा को चूम पाती। नहीं, आशा मेरी नहीं। यदि मेरी होती तो क्यों साथ छूटता ·····।" सोना गीली आँखें और धड़कता दिल लेकर कोठरी से बाहर निकल, अँधेरी रात में अनिश्चित दिशा में बढ़ चली। उसने एक-दो बार लौट-लौटकर तृष्णा भरी दृष्टि से बाबू दीनदयाल के घर को देखा। फिर जल्दी-जल्दी लम्बे डग भरती हुई उस अज्ञात सुनहले लोक की ओर बढ़ चली—जहाँ से उसका स्वामी कातर स्वर में उसे बुला रहा था, उसका आवाहन कर रहा था।